जैनधर्म की कहानियाँ

भाग – 27

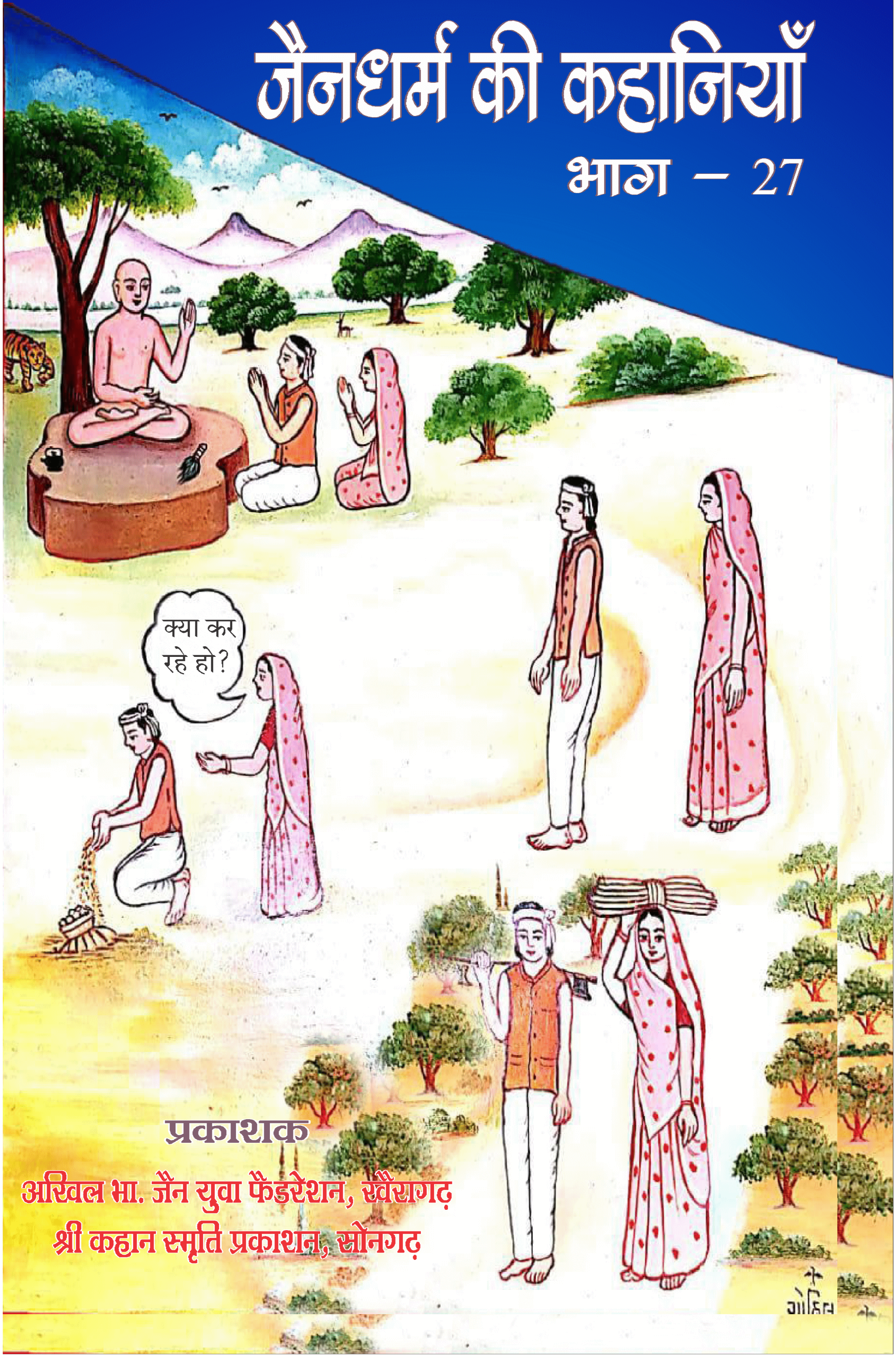

प्रकाशक

अखिल भा. जैन युवा फैडरेशन, खैरागढ़

श्री कहान स्मृति प्रकाशन, सोनगढ़

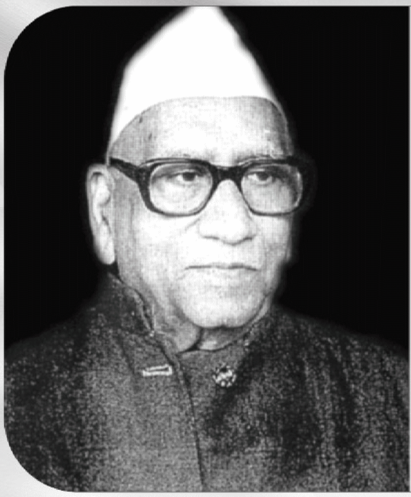

श्री खेमराज गिड़िया
जन्म : 27 दिसम्बर, 1918
देहविलय : 4 अप्रेल, 2003

श्रीमती धुड़ीबाई गिड़िया
जन्म : 1922
देहविलय : 24 नवम्बर, 2012

आप दोनों के विशेष सहयोग से सन् १९८८ में **श्रीमती धुड़ीबाई खेमराज गिड़िया** ग्रन्थमाला की स्थापना हुई, जिसके अन्तर्गत प्रतिवर्ष धार्मिक साहित्य एवं पौराणिक कथाएँ प्रकाशित करने की योजना का शुभारम्भ हुआ। इस ग्रन्थमाला के संस्थापक श्री खेमराज गिड़िया का संक्षिप्त परिचय देना हम अपना कर्तव्य समझते हैं –

जन्म : सन् १९१८ चांदरख (जोधपुर)
पिता : श्री हंसराज, **माता :** श्रीमती मेहंदीबाई

शिक्षा/व्यवसाय : प्रायमरी शिक्षा प्राप्त कर मात्र १२ वर्ष की उम्र में ही व्यवसाय में लग गए।
सत्-समागम : सन् १९५० मेंपूज्य श्रीकानजीस्वामी का परिचय सोनगढ़ में हुआ।

ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा : सन् १९५३ में मात्र ३४ वर्ष की आयु में पूज्य स्वामीजी से सोनगढ़ में अल्पकालीन ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा लेकर धर्मसाधन में लग गये।

विशेष : भावनगर पंचकल्याणक प्रतिष्ठा में भगवान के माता-पिता बने।

सन् १९५९ में खैरागढ़ में दिग. जिनमंदिर निर्माण कराया एवं पूज्य गुरुदेवश्री के शुभहस्ते प्रतिष्ठा में विशेष सहयोग दिया।

सन् १९८८ में ७० यात्रियों सहित २५ दिवसीय दक्षिण तीर्थयात्रा संघ निकाला एवं व्यवसाय से निवृत्त होकर अधिकांश समय सोनगढ़ में रहकर आत्म-साधना करते थे।

हम हैं आपके बताए मार्ग पर चलनेवाले

पुत्र : दुलीचन्द, पन्नालाल, मोतीलाल, प्रेमचंद एवं समस्त गिड़िया कुटुम्ब।

पुत्रियाँ : ब्र. ताराबेन एवं ब्र. मैनाबेन।

श्रीमती धुड़ीबाई खेमराज गिड़िया ग्रंथमाला का ३५ पुष्प

जैनधर्म की कहानियाँ

(तू किरण नहीं सूर्य है)

(भाग - २७)

लेखक :

श्री बाबूलाल जैन, दिल्ली

सम्पादक :

पण्डित रमेशचन्द शास्त्री, जयपुर

प्रकाशक :

अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन
महावीर चौक, खैरागढ़ – 491 881 (छत्तीसगढ़)
और
श्री कहान स्मृति प्रकाशन
कहान रश्मि, सोनगढ़ - 364 250 (सौराष्ट्र)

प्रस्तुत संस्करण - 1000 प्रतियाँ
२५ दिसम्बर, 2022
(सिद्धचक्र विधान, खैरागढ़)
न्यौछावर : 15 रुपये मात्र

❋

अबतक प्रकाशित एवं प्रचारित
चौबीस तीर्थंकर महापुराण
(हिन्दी-गुजराती) एवं
जैनधर्म की कहानियाँ
भाग १ से २७ तथा अन्य
लगभग **७ लाख २१ हजार प्रतियाँ**

❋

__प्राप्ति स्थान__

१. **पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट,**
ए-४, बापूनगर, जयपुर-३०२०१५

२. **पूज्य श्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट, देवलाली**
कहाननगर, वेलतगांव रास्ता,
लामरोड, देवलाली, नासिक-४२२ ४०१

३. **तीर्थधाम मंगलायतन,**
पो.- सासनी-२०४ २१६ जिला- हाथरस (उ.प्र.)

४. **श्री परमागम श्रावक ट्रस्ट,** आचार्य कुन्दकुन्द नगर,
सोनागिर सिद्धक्षेत्र-४७५ ६८५, जिला-दतिया (म.प्र.)

Printed at : Jain Computers Jaipur
Mob. : 094147-17816, 861997596
e-mail : jaincomputers74 @gmail.com

प्रकाशकीय

पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी द्वारा प्रभावित आध्यात्मिक क्रान्ति को जन-जन तक पहुँचाने में पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट जयपुर के डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल का योगदान अविस्मरणीय है, उन्हीं के मार्गदर्शन में अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन की स्थापना की गई है। फैडरेशन की खैरागढ़ शाखा का गठन २६ दिसम्बर, १९८० को पण्डित ज्ञानचन्दजी, विदिशा के शुभ हस्ते किया गया। तब से आज तक फैडरेशन के सभी उद्देश्यों की पूर्ति इस शाखा के माध्यम से अनवरत हो रही है।

इसके अन्तर्गत् सामूहिक स्वाध्याय, पूजन, भक्ति आदि दैनिक कार्यक्रमों के साथ-साथ साहित्य प्रकाशन, साहित्य विक्रय, श्री वीतराग विद्यालय, ग्रन्थालय, मासिक विधान, गोष्ठी आदि गतिविधियाँ उल्लेखनीय हैं; साहित्य प्रकाशन के कार्य को गति एवं निरंतरता प्रदान करने के उद्देश्य से सन् १९८८ में श्रीमती धुड़ीबाई खेमराज गिड़िया ग्रन्थमाला की स्थापना की गई।

इस ग्रन्थमाला के परम शिरोमणि सदस्य ५१००१/- में, शिरोमणि सदस्य २१००१/- में, परमसंरक्षक सदस्य ११००१/- एवं संरक्षक सदस्य ५००१/- में बनाये जाते हैं, जिनके नाम प्रत्येक प्रकाशन में दिये जाते हैं।

पूज्य गुरुदेव के अत्यन्त निकटस्थ अन्तेवासी एवं जिन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन उनकी वाणी को आत्मसात करने एवं लिपिबद्ध करने में लगा दिया – ऐसे ब्र. हरिभाई का हृदय जब पूज्य गुरुदेवश्री का चिर-वियोग (वीर सं. २५०६ में) स्वीकार नहीं कर पा रहा था, ऐसे समय में उन्होंने पूज्य गुरुदेवश्री की मृत देह के समीप बैठे-बैठे संकल्प लिया कि जीवन की सम्पूर्ण शक्ति एवं सम्पत्ति का उपयोग गुरुदेवश्री के स्मरणार्थ ही खर्च करूँगा। तब श्री कहान स्मृति प्रकाशन का जन्म हुआ और एक के बाद एक गुजराती भाषा में सत्साहित्य का प्रकाशन होने लगा, लेकिन अब हिन्दी, गुजराती दोनों भाषा के प्रकाशनों में श्री कहान स्मृति प्रकाशन का सहयोग प्राप्त हो रहा है, जिसके परिणाम स्वरूप नये-नये प्रकाशन आपके सामने हैं।

साहित्य प्रकाशन के अन्तर्गत् जैनधर्म की कहानियों के अनेकों भाग एवं चौबीस तीर्थंकर महापुराण (हिन्दी-गुजराती), लघु जिनवाणी संग्रह : अनुपम संग्रह, पाहुड़ दोहा-भव्यामृत शतक-आत्मसाधना सूत्र, विराग सरिता तथा लघुतत्त्वस्फोट, अपराध क्षणभर का (कॉमिक्स) - इसप्रकार अनेक प्रकार की लाखों प्रतियाँ प्रकाशित होकर पूरे विश्व में धार्मिक संस्कार सिंचन एवं तत्त्वबोध का कार्य कर रही हैं। प्रस्तुत संस्करण जैनधर्म की कहानियाँ भाग नं. २७ है।

इसमें आद. श्री बाबूलालजी दिल्ली द्वारा लिखित तू किरण नहीं सूर्य है नामक कृति से कुछ चुनिंदा रचनाओं को श्री प्रेमभाई खैरागढ़ ने संकलित कर इसे बनाया है। इसके अधिकांश चित्र भी बनवाये हैं। जिसे पण्डित रमेशचन्द शास्त्री, जयपुर ने भले प्रकार सम्पादित किया एवं कुछ बड़ी कथाओं का संक्षिप्त सार लिखकर संक्षिप्त रुचि वालों के लिए प्रेरणा स्वरूप प्रयास किया है, विशेष उपयोगी जानकर उसे भी इसमें शामिल किया गया है, आशा है इन्हें पढ़कर पाठकों को बड़ी कथा पढ़ने का भाव बनेगा, अत: हम सभी के आभारी हैं।

सभी वर्ग के लोगों द्वारा इन भागों का लाभ लिये जाने से इनकी निरन्तर मांग बनी हुई है। आशा है इसका स्वाध्याय कर सभी पाठक गण अवश्य ही बोध प्राप्त कर सन्मार्ग पर चलकर अपना जीवन सफल करेंगे। साहित्य प्रकाशन फण्ड, गिड़िया ग्रन्थमाला के परमशिरोमणि संरक्षक, शिरोमणि संरक्षक, परमसंरक्षक एवं संरक्षक सदस्यों के रूप में जिन महानुभावों का सहयोग मिला है, हम उन सबका भी हार्दिक आभार प्रकट करते हैं, आशा करते हैं कि भविष्य में भी सभी इसी प्रकार सहयोग प्रदान करते रहेंगे।

विनीत:

मोतीलाल जैन,	पं. अभय जैन शास्त्री,
अध्यक्ष	**साहित्य प्रकाशन प्रमुख**

पुस्तक प्राप्ति, सहयोग राशि एवं बिल भुगतान शांतिनाथ दिगम्बर जैन मंदिर ट्रस्ट, खैरागढ़ के नाम से भारतीय स्टेट बैंक, खैरागढ़ खाता क्रमांक 10743382296 **IFSC-SBIN0000524** एवं आई डी बी आई खाता क्रमांक 526100100004648 **IFSC-IBKL0000526** में जमा कराके, **निम्न** मोबाइल नं. 9424111488/9414717816 पर सूचना देकर रसीद प्राप्त कर सकते हैं।

विनम्र आदराञ्जली

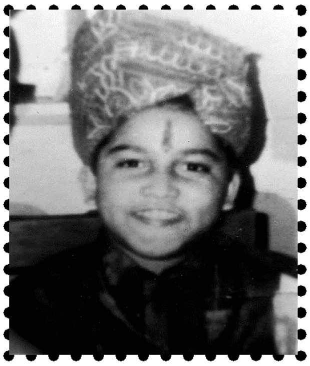

जन्म
१/१२/१९७८
(खैरागढ़, म.प्र.)

स्वर्गवास
२/२/१९९३
(दुर्ग पंचकल्याणक)

स्व. तन्मय (पुखराज) गिड़िया

अल्पवय में अनेक उत्तम संस्कारों से सुरभित, भारत के सभी तीर्थों की यात्रा, पर्वों में यम-नियम में कट्टरता, रात्रि भोजन त्याग, टी.वी. देखना त्याग, देवदर्शन, स्वाध्याय, पूजन आदि छह आवश्यक में हमेशा लीन, सहनशीलता, निर्लोभता, वैरागी, सत्यवादी, दान शीलता से शोभायमान तेरा जीवन धन्य है।

अल्पकाल में तेरा आत्मा असार-संसार से मुक्त होगा (वह स्वयं कहता था कि मेरे अधिक से अधिक ३ भव बाकी हैं।) चिन्मय तत्त्व में सदा के लिए तन्मय हो जावे – ऐसी भावना के साथ यह वियोग का वैराग्यमय प्रसंग हमें भी संसार से विरक्त करके मोक्षपथ की प्रेरणा देता रहे - ऐसी भावना है।

हम हैं

दादा	स्व. श्री कंवरलाल जैन	**दादी**	स्व. मथुराबाई जैन
पिता	श्री मोतीलाल जैन	**माता**	श्रीमती शोभादेवी जैन
बुआ	श्रीमती ढेलाबाई	**फूफा**	स्व. तेजमाल जैन
जीजा	श्री शुद्धात्मप्रकाश जैन	**जीजी**	सौ. श्रद्धा जैन, विदिशा
जीजा	श्री योगेशकुमार जैन	**जीजी**	सौ. क्षमा जैन, धमतरी

हमारे मार्गदर्शक

श्री दुलीचंद बरडिया राजनाँदगाँव
पिता - स्व. फतेलालजी बरडिया

श्रीमती स्व. सन्तोषबाई बरडिया
पिता - स्व. सिरेमलजी सिरोहिया

सरल स्वभावी बरडिया दम्पत्ति अपने जीवन में वर्षों से सामाजिक और धार्मिक गतिविधियों से जुड़े हैं। सन् १९९३ में आप लोगों ने ८० साधर्मियों को तीर्थयात्रा कराने का पुण्य अर्जित किया है। इस अवसर पर स्वामी वात्सल्य कराकर और जीवराज खमाकर शेष जीवन धर्मसाधना में बिताने का मन बनाया है।

विशेष **–** आध्यात्मिक सत्पुरुष पूज्य श्री कानजीस्वामी के दर्शन और सत्संग का लाभ लिया है।

परिवार

पुत्र	**पुत्रवधु**	**पुत्री**	**दामाद**
ललित	लीला	चन्द्रकला	गौतमचंद बोथरा,
स्व. निर्मल	प्रभा		भिलाई
अनिल	मंजु	शशिकला	अरुणकुमार पालावत,
सुनील	सुधा		जयपुर

ग्रन्थमाला सदस्यों की सूची

परमशिरोमणि संरक्षक सदस्य

श्री हेमल भीमजी भाई शाह, लन्दन
श्री विनोदभाई देवसी कचराभाई शाह, लन्दन
श्री स्वयं शाह ओस्त्रो व्स्की ह. शीतल विजेन
श्रीमती ज्योत्सना बेन विजयकान्त शाह, अमेरिका
श्रीमती मनोरमादेवी विनोदकुमार, जयपुर
पं. श्री कैलाशचन्द पवनकुमार जैन, अलीगढ़
श्री जयन्तीलाल चिमनलाल शाह ह. सुशीलाबेन अमेरिका
श्रीमती सोनिया समीत भायाणी प्रशांत भायाणी, अमेरिका
श्रीमती ऊषाबेन प्रमोद सी. शाह, शिकागो
श्रीमती सूरजबेन अमुलखभाई सेठ, मुम्बई
श्रीमती कुसुमबेन चन्द्रकान्तभाई शाह, मुलुण्ड
एक मुमुक्षु परिवार दादर ह. जयसुखभाई खारड़ीया
पारसमल महेन्द्रकुमार जैन, ह. सरिता बेन तेजपुर
श्री निलय ढेढिया, न्यूजर्सी अमेरिका

शिरोमणि संरक्षक सदस्य

झनकारीबाई खेमराज बाफना चेरिटेबल ट्रस्ट,खैरागढ़
मीनाबेन सोमचन्द भगवानजी शाह, लन्दन
श्री अभिनन्दनप्रसाद जैन, सहारनपुर
श्रीमती ज्योत्सना महेन्द्र मणीलाल मलाणी, माटुंगा
स्व. धापू देवी ताराचन्द गंगवाल, जयपुर
ब्र. कुसुम जैन, कुम्भोज बाहुबली
श्रीमती पुष्पलता अजितकुमारजी, छिन्दवाड़ा
सौ. सुमन जैन जयकुमारजी जैन डोगरगढ़
श्री दुलीचंदजी अनिल-सुनील बरड़िया, नांदगांव
स्व. मनहरभाई ह. अभयभाई इन्द्रजीतभाई, मुम्बई
श्री निलय ढेढिया, पार्ला मुम्बई
श्री कुन्दकुन्द कहान जैन तत्त्वप्रचार समिति, दादर
पीनल बेन प्रकाशभाई संघवी, घाटकोपर
गीताबेन परिवार बोरीबली

परमसंरक्षक सदस्य

श्रीमती शान्तिदेवी कोमलचंद जैन, नागपुर
श्रीमती पुष्पाबेन कांतिभाई मोटाणी, बम्बई
श्रीमती हंसुबेन जगदीशभाई लोदरिया, बम्बई
श्रीमती लीलादेवी श्री नवरत्नसिंह चौधरी, भिलाई
श्रीयुत प्रशान्त-अक्षय-सुकान्त-केवल, लन्दन
श्रीमती पुष्पाबेन भीमजीभाई शाह, लन्दन
श्री सुरेशभाई मेहता, बम्बई एवं श्री दिनेशभाई, मोरबी
श्री महेशभाई प्रकाशभाई मेहता, राजकोट
श्री रमेशभाई, नेपाल एवं श्री राजेशभाई मेहता, मोरबी
श्रीमती वसंतबेन जेवंतलाल मेहता, मोरबी
स्व.हीराबाई, हस्ते-श्री प्रकाशचंद मालू, रायपुर
श्रीमती चन्द्रकला प्रेमचन्द जैन, खैरागढ़
स्व. मथुराबाई कँवरलाल गिड़िया, खैरागढ़
सरिता बेन ह. पारसमल महेन्द्रकुमार जैन, तेजपुर
श्रीमती कंचनदेवी दुलीचन्द जैन गिड़िया, खैरागढ़
दमयन्तीबेन हरीलाल शाह चैरिटेबल ट्रस्ट, मुम्बई
श्रीमती रूपाबैन जयन्तीभाई ब्रोकर, मुम्बई
श्री जम्बूकुमार सोनी, इन्दौर
श्रीमती सुशीला बेन सुरेशभाई शाह, अहमदावाद
श्रीमती स्नेहलता ध.प. जैनबहादुरजी जैन, कानपुर
एक मुमुक्षुबेन, तेजपुर
श्रीमती सुशीलाबाई उत्तमचंद गिड़िया, रायपुर

संरक्षक सदस्य

श्रीमती शोभादेवी मोतीलाल गिड़िया, खैरागढ़
श्रीमती धुड़ीबाई खेमराज गिड़िया, खैरागढ़
श्रीमती ढेलाबाई तेजमाल नाहटा, खैरागढ़
श्री शैलेषभाई जे. मेहता, नेपाल
ब्र. ताराबेन ब्र. मैनाबेन, सोनगढ़
स्व. अमराबाई नांदगांव, ह. श्री घेवरचंद डाकलिया
श्रीमती चन्द्रकला गौतमचन्द बोथरा, भिलाई
श्रीमती गुलाबबेन शांतिलाल जैन, भिलाई
श्रीमती राजकुमारी महावीरप्रसाद सरावगी, कलकत्ता
श्री प्रेमचन्द रमेशचन्द जैन शास्त्री, जयपुर
श्री प्रफुल्लचन्द संजयकुमार जैन, भिलाई
स्व. लुनकरण, झीपुबाई कोचर, कटंगी
श्रीमती पुष्पाबेन चन्दुलाल मेघाणी, कलकत्ता
श्री लवजी बीजपाल गाला, बम्बई
स्व. कंकुबेन रिखबदास जैन ह. शांतिभाई, बम्बई
एक मुमुक्षुभाई, ह. सुकमाल जैन, दिल्ली
श्रीमती सुशीलाबेन उत्तमचंद गिड़िया, रायपुर
स्व. रामलाल पारख, ह. नथमल नांदगांव
श्री बिशम्भरदास महावीरप्रसाद जैन सर्राफ, दिल्ली
श्रीमती जैनाबाई, भिलाई ह. कैलाशचन्द शाह
सौ. रमाबेन नटवरलाल शाह, जलगाँव
सौ. सविताबेन रसिकभाई शाह, सोनगढ़
श्री फूलचंद विमलचंद झांझरी उज्जैन,

श्रीमती पतासीबाई तिलोकचंद कोठारी, जालबांधा
श्री छोटालाल केशवजी भायाणी, बम्बई
श्रीमती जशवंतीबेन बी. भायाणी, घाटकोपर
स्व. भैरोदान संतोषचन्द कोचर, कटंगी
श्री चिमनलाल ताराचंद कामदार, जैतपुर
श्री तखतराज कांतिलाल जैन, कलकत्ता
श्रीमती ढेलाबाई चेरिटेबल ट्रस्ट, खैरागढ़
श्रीमती तेजबाई देवीलाल मेहता, उदयपुर
श्रीमती सुधा सुबोधकुमार सिंघई, सिवनी
गुप्तदान, हस्ते – चन्द्रकला बोथरा, भिलाई
श्री फूलचंद चौधरी, बम्बई
सौ. कमलाबाई कन्हैयालाल डाकलिया, खैरागढ़
श्री सुगालचंद विरधीचंद चोपड़ा, जबलपुर
श्रीमती सुनीतादेवी कोमलचन्द कोठारी, खैरागढ़
श्रीमती स्वर्णलता राकेशकुमार जैन, नागपुर
श्रीमती कंचनदेवी पन्नालाल गिड़िया, खैरागढ़
श्री लक्ष्मीचंद सुन्दरबाई पहाड़िया, कोटा
श्री शान्तिकुमार कुसुमलता पाटनी, छिन्दवाड़ा
श्री छीतरमल बाकलीवाल जैन ट्रेडर्स, पीसांगन
श्री किसनलाल देवड़िया ह. जयकुमारजी, नागपुर
श्री सुदीपकुमार गुलाबचन्द, नागपुर
सौ. शीलाबाई मुलामचन्दजी, नागपुर
सौ. मोतीदेवी मोतीलाल फलेजिया, रायपुर
समकित महिला मंडल, डोंगरगढ़
श्री दि. जैन मुमुक्षु मण्डल, सागर
सौ. शांतिदेवी धनकुमार जैन, सूरत
श्री चिन्द्रूप शाह, बम्बई
स्व. फेफाबाई पुसालालजी, बैंगलोर
ललितकुमार डॉ. श्री तेजकुमार गंगवाल, इन्दौर
स्व. नोकचन्दजी, ह. केशरीचंद सावा सिल्हाटी
कु. वंदना पन्नालालजी जैन, झाबुआ
कु. मीना राजकुमार जैन, धार
सौ. वंदना संदीप जैनी ह.कु. श्रेया जैनी, नागपुर
सौ. केशरबाई ध.प. स्व. गुलाबचन्द जैन, नागपुर
जयवंती बेन किशोरकुमार जैन
श्री मनोज शान्तिलाल जैन
श्रीमती शकुन्तला अनिलकुमार जैन, मुंगावली
इंजी.आरती पिता श्री अनिलकुमार जैन, मुंगावली
श्रीमती पानादेवी मोहनलाल सेठी, गोहाटी
श्रीमती माणिकबाई माणिकचन्द जैन, इन्दौर
श्रीमती भूरीबाई स्व. फूलचन्द जैन, जबलपुर

स्व. सुशीलाबेन हिम्मतलाल शाह, भावनगर
श्री किशोरकुमार राजमल जैन, सोनगढ़
श्री जयपाल जैन, दिल्ली
श्री सत्संग महिला मण्डल, खैरागढ़
श्रीमती किरण – एस.के. जैन, खैरागढ़
स्व. गैंदामल - ज्ञानचन्द - सुमतप्रसाद, खैरागढ़
स्व. मुकेश गिड़िया स्मृति ह. निधि-निश्चल, खैरागढ़
सौ. सुषमा जिनेन्द्रकुमार, खैरागढ़
श्री अभयकुमार शास्त्री, ह. समता-नम्रता, खैरागढ़
स्व. वसंतबेन मनहरलाल कोठारी, बम्बई
सौ. अचरजकुमारी श्री निहालचन्द जैन, जयपुर
सौ. शोभाबाई भवरीलाल चौधरी, यवतमाल
सौ. ज्योति सन्तोषकुमार जैन, डोभी
श्री बाबूलाल तोताराम लुहाड़िया, भुसावल
स्व. लालचन्द बाबूलाल लुहाड़िया, भुसावल
सौ. ओमलता लालचन्द जैन, भुसावल
श्री योगेन्द्रकुमार लालचन्द लुहाड़िया, भुसावल
श्री ज्ञानचन्द बाबूलाल लुहाड़िया, भुसावल
सौ. साधना ज्ञानचन्द जैन लुहाड़िया, भुसावल
श्री देवेन्द्रकुमार ज्ञानचन्द लुहाड़िया, भुसावल
श्री महेन्द्रकुमार बाबूलाल लुहाड़िया, भुसावल
सौ. लीना महेन्द्रकुमार जैन, भुसावल
श्री चिन्तनकुमार महेन्द्रकुमार जैन, भुसावल
श्री कस्तूरी बाई बल्लभदास जैन, जबलपुर
स्व.यशवंत छाजेड़ ह.श्री पन्नालाल जैन, खैरागढ़
अनुभूति-विभूति अतुल जैन, मलाड
श्री आयुष्य जैन संजय जैन, दिल्ली
श्री सम्यक अरुण जैन, दिल्ली
श्री सार्थक अरुण जैन, दिल्ली
श्री केशरीमल नीरज पाटनी, ग्वालियर
श्री परागभाई हरिवदन सत्यपंथी, अहमदाबाद
लक्ष्मीबेन वीरचन्द शाह ह. शारदाबेन, सोनगढ़
श्री प्रशम जीतूभाई मोदी, सोनगढ़
श्री हेमलाल मनोहरलाल सिंघई, बोनकट्टा
स्व. दुर्गा देवी स्मृति ह. दीपचन्द चौपड़ा, खैरागढ़
श्री पारसमल महेन्द्रकुमार, तेजपुर
शाह श्री कैलाशचन्दजी मोतीलालजी, भिलाई
श्रीमती प्रेक्षादेवी प्रवीणकुमारजी शास्त्री, रायपुर
वर्षाबेन निरंजन भाई, सुरेन्द्रनगर
श्रीमती रूवी राजकुमार जैन, दुर्ग
श्रीमती विजया विजयकुमार जैन, विलासपुर

❋ साहित्य प्रकाशन फण्ड ❋

श्री कुंदकुंद कहान जैन तत्त्वप्रचार समिति, दादर	1001/-
चन्द्रकला बोथरा, भिलाई	1001/-
चौधरी जी, भिलाई	1001/-
चेतना महिला मण्डल, खैरागढ़	1001/-
स्व. विमलचंद ह. शरद कुमार डोगरगढ़	1001/-
श्रीमती कंचनदेवी दुलीचंद गिड़िया, ह. कमलेश जिनेश जैन, खैरागढ़	1001/-
झनकारीबाई खेमराज बाफना चैरीटेबल ट्रस्ट, खैरागढ़	
ह.श्री मोतीलाल गिड़िया, खैरागढ़	1001/-
ढ़ेलाबाई चैरीटेबल ट्रस्ट, खैरागढ़	
ह. श्रीमती शोभादेवी मोतीलाल गिड़िया, खैरागढ़	1001/-
ब्र. तारा बेन मैना बेन, सोनगढ़	1001/-
श्रीमती चन्द्रकला प्रेमचन्द गिड़िया, खैरागढ़ ह. श्रुति अभय जैन	1001/-
मनोजकुमार अभयराज टाटिया ह. बरखा बेन, खैरागढ़	501/-
राजकुमार प्रदीपकुमार जैन, दुर्ग	501/-
सौ. निधि ऋषभजी चौपड़ा ह. कु. कृषा, रायपुर	501/-
शशांक सुरभि जैन ह. कु. श्रीषा, कु. श्रीजिता, दुर्ग	501/-
मंगलीबाई ह. योगेश कुमार गोलछा, धमतरी	501/-
सौ. कल्पना अनिलकुमार जैन, खैरागढ़	501/-
स्व. मधुबाई ह. कस्तूरचंद जी भडगतिया, रायपुर	501/-
ब्र. जमना बेन, देवलाली	501/-
प्रज्ञा बेन गोसलिया, अहमदावाद	501/-
श्रीमती सरला, ह. निश्चल जैन, खैरागढ़	501/-
सौ. गुलाब बाई पन्नालाल छाजेड़ ह. उमेश महेश, खैरागढ़	501/-
श्रीमती कंचन देवी पन्नालाल गिड़िया, खैरागढ़ ह. मनोज जैन	501/-
श्रीमती शशि देवी राजेश कुमार लूनिया, खैरागढ़	501/-
श्रीमती निधि देवी संदीप शास्त्री, खैरागढ़	501/-
सौ. सुवर्णा प्रदीप कुमार, खैरागढ़	501/-
स्व. मन्नूबाई मोहनलाल जी श्रीमाल ह. कंचनबाई	501/-
गुप्तदान, ह. कमलेश जैन, खैरागढ़	501/-
गुप्तदान, ह. कमलेश जैन, खैरागढ़	501/-
सोनी देवी नितेश कुमार कटंगी	301/-
चारू बेन भूपेन्द्र भाई मेहता, कांदिवली	251/-
नेहा बेन जैन, मुम्बई	251/-

मध्यलोक के 458 अकृत्रिम चैत्यालय

सुमेरु पर्वत के 16-

सुमेरु के भद्रसाल वन की चारों दिशाओं के-4, सुमेरु के नन्दन वन की चारों दिशाओं के-4 सुमेरु के सोमनस वन की चारों दिशाओं के-4, सुमेरु के पाण्डुक वन की चारों दिशाओं के-4 चैत्यालय

गजदंत पर्वत के 04

गजदंत की चारों दिशाओं के -4 चैत्यालय

वक्षार पर्वत के 16-

ये 4 होते हैं, प्रत्येक से 3 विभंगा नदियाँ प्रवाहित होती हैं,जिससे प्रत्येक पर्वत 4 भागों में विभक्त हो जाते हैं इसप्रकार इन 16 स्थानों पर 16 चैत्यालय हैं।

विजयार्द्ध सम्बंधी 34-

पूर्व और पश्चिम दो विदेह क्षेत्र हैं, पूर्व विदेह की उत्तर दिशा में 8 नगर हैं और दक्षिण दिशा में 8 नगर हैं। इसीप्रकार पश्चिम विदेह में 8-8 नगर हैं। भरत और ऐरावत 2 क्षेत्र हैं। इसप्रकार कुल 34 क्षेत्रों के विजयार्द्ध सम्बन्धी 34 चैत्या. हैं।

कुलाचल पर्वत के 6-

हिमवन, महा हिमवन,निषध, नील, रुक्मि, शिखरी पर्वतों पर 1-1 चैत्यालय है।

वृक्ष के 2- जम्बुवृक्ष- यह उत्तरकुरु उत्तम भोगभूमि विदेह में है।
शाल्मलि वृक्ष- यह देवकुरु उत्तम भोगभूमि विदेह में है।)

ज़म्बूद्वीप में सुमेरु के कुल चैत्यालय- 78

ढाई द्वीप में 5 मेरु हैं, 78 को 5 से गुणा करने पर कुल चैत्यालय होते हैं-	390
इष्वाकार पर्वत के	004
(जो धातकी खण्ड और पुस्कराद्ध द्वीपों को दो भागों में बांटता है, वह इष्वाकार पर्वत है।)	
मानुषोत्तर पर्वत की चारों दिशाओं के-	004
आठवें द्वीप में नंदीश्वर की चारों दिशाओं के-	052
ग्यारहवें द्वीप में कुण्डलपुर की चारों दिशाओं के-	004
तेरहवें द्वीप में रुचकवर की चारों दिशाओं के-	004
कुल ---	458

मिट्टी पर मिट्टी क्यों डालें !

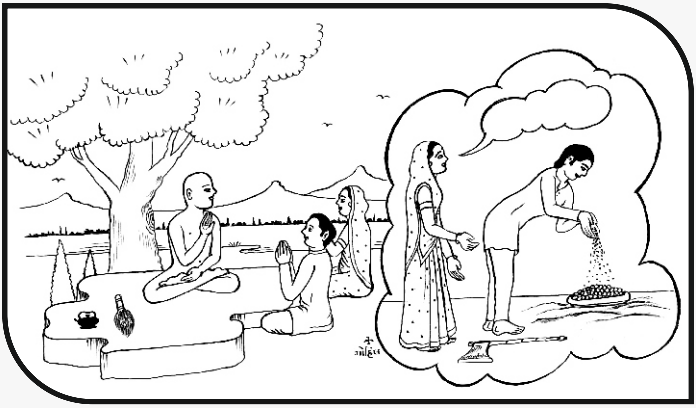

एक आदमी और उसकी पत्नी जंगल में रहते थे। लकड़ी काटते थे और उनको बेचकर जो मिलता उससे अपना काम चलाते थे। एक बार सात दिन तक लगातार वर्षा होती रही। सात दिन तक निराहार रहना पड़ा। भीख न मांगने का उनका नियम था। सात दिन बाद जंगल में गये तो संयोगवश एक मुनिराज मिल गए। वे बोले कि कोई नियम ले लो। दम्पत्ति ने नियम लिया कि कसी की भी कोई गिरी-पड़ी चीज नहीं लेंगे। दोनों लकड़ी काटने आगे चले गये। आगे-आगे पुरुष जा रहा था, पीछे-पीछे स्त्री आ रही थी। संयोग से उसी रोज उस पुरुष को अशर्फियों से भरी एक थैली पड़ी दिखाई दी।

उसने सोचा कि सात दिन से खाना नहीं मिला है, आज ही नियम लेकर आये हैं, कहीं स्त्री का मन न चल पड़े, अतः उसने उस थैली पर मिट्टी डाल दी। इतने में स्त्री आ गयी।

उसने पूछा क्या कर रहे हो? पुरुष ने कहा कि यह थैली पड़ी थी, मैं इस पर मिट्टी डाल रहा था कि कहीं तुम्हारा मन मचल न जाए, आज ही तो हम महात्मा जी के समक्ष नियम लेकर आये हैं।

उस स्त्री ने कहा-लगता है कि तुमसे नियम नहीं पलेगा। मैं तो नियम लेने के बाद दूसरे के धन को मिट्टी ही देखती हूँ। इस मिट्टी पर मिट्टी क्यों डाल रहे हो? तुम्हें अभी धन दिखाई देता है, इसलिए व्रत का पालन तुमसे न हो सकेगा।

यदि हमें धन में सुख दिखाई दे रहा है तो धन का त्याग नहीं हो सकता। और यदि धन में नरक दिखाई दे रहा है तो भी त्याग सही नहीं है।

एक आदमी धन के पीछे लग रहा है और दूसरा आदमी धन से भाग रहा है। पहले आदमी के लिए धन स्वर्ग है, दूसरे के लिए नरक। दोनों की ही धारणायें विपरीत हैं। दोनों ही भाग रहे हैं। ठहरा हुआ तो वह है जो ज्ञान का मालिक है। धन न तो स्वर्ग है, न नरक; हमारे दृष्टिकोण ने उसे नरक और स्वर्ग बनाया है। अगर स्त्री सुन्दर या कुरूप दिखाई दे रही है तो समझना चाहिए कि स्त्री का त्याग अभी नहीं हुआ। कांच, कंचन में यदि अन्तर दिखाई दे रहा है तो अभी दृष्टि दोष नहीं गया।

गलती वस्तु की नहीं है - गलती हमारी है, हमारी दृष्टि में दोष है। जैसी वस्तु है वैसी दिखाई दे, उसमें अपनापन न आये, यही सही उपाय है।

प्रत्येक आत्मा
सर्व का, सर्वत्र, सर्वदा, ज्ञाता ही है। स्वीकार कर !

बन्दर

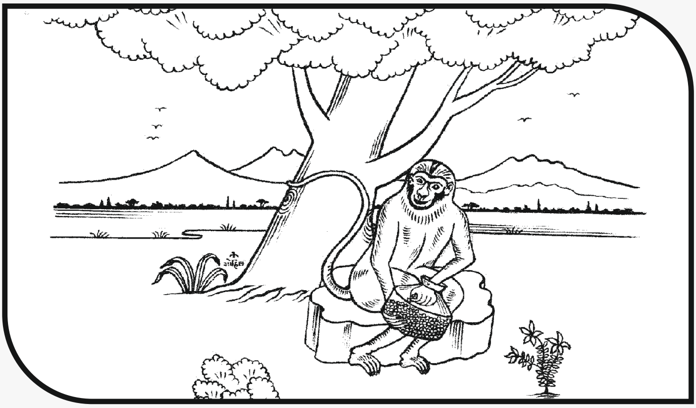

एक बन्दर था। उसने चने लेने के लिए एक छोटे मुँह के घड़े में हाथ डाला और चने मुट्ठी में भर लिये। अब छोटे मुँह के घड़े से बंद मुट्ठी कैसे निकले? वह समझता है कि घड़े ने मुझे पकड़ लिया, इसलिए मुट्ठी खोलने की चेष्टा नहीं करता; यह नहीं समझता कि घड़े ने मुझे नहीं पकड़ा; मैंने ही मुट्ठी बाँध रखी है, इसलिये बँधा हुआ हूँ। अगर मुट्ठी खोल दूँ तो खुला हुआ ही हूँ। जबतक इसप्रकार अपनी सही स्थिति को नहीं समझेगा, तबतक बँधा ही रहेगा।

यही बात हमारी है। हम मानते हैं कि कर्म ने हमें बाँध रखा है और समूचा दोष कर्म का ही देखते हैं, अपने दोष को नहीं देखते। ***यह समझना चाहिए कि यदि मैं कषायरूप परिणमन न करूँ तो खुला ही हूँ।***

जबतक हम अपना दोष न समझकर पर का दोष समझेंगे, तबतक अपनी गलती को दूर करने का पुरुषार्थ हम में जागृत नहीं होगा। यह जीव पर में, शरीरादि में अपनापन स्वयं ही मानता है और गलती कर्म की बताता है। आप अपने स्वरूप को समझने की चेष्टा करे तो कर्म अपने आप ढीला हो जाता है।

जहाँ अपने स्वभाव को अपने रूप देखा कि मिथ्यात्व कर्म का अभाव हुआ। यदि यह जीव अपने स्वभाव का अवलम्बन ले तो चारित्रमोह का उदय आने की जगह उदयाभावी क्षय हो जाए; परन्तु जब आप ही कषाय रूप परिणमन करना चाहे तब कर्म क्या करें?

पानी पर कोई तैरे तो पानी 'ना' नहीं करता, डूबे तो पानी विरोध नहीं करता। हम स्वयं ही अपना सिर पत्थर से फोड़ते हैं और कहते हैं कि पत्थर ने सिर फोड़ दिया।

दूसरे को सही करने की चेष्टा करना व्यर्थ है। अपने को ठीक करने का उपाय करें; यही सही मार्ग है।

- ✪ जो होता है, वही प्रगट होता है।
- ✪ जो है ही नहीं, वह प्रगट कैसे होगा?
- ✪ जिसमें होता है, उसी में से प्रगट होता है।
- ✪ अन्य में से कैसे प्रगट होगा?
- ✪ जो जिस विधि से प्रगट होता है।
- ✪ उसी विधि से प्रगट होगा, विपरीत विधि से कैसे होगा?
- ✪ आत्मा ज्ञानानन्द स्वरूप है अत: ज्ञानानन्द, आत्मा में से ही प्रगट होगा।
- ✪ जड़ परदव्यों में एवं कषायभावों में ज्ञान व आनन्द है ही नहीं, तब उनमें से प्रगट भी कैसे होगा?

मेरा कौन ?

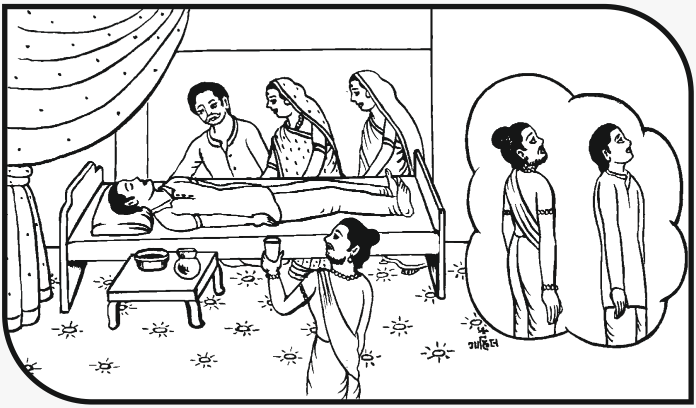

एक सेठ का बेटा घर में बैठा था। बाहर से एक साधु गाता हुआ जा रहा था, 'इस जगत में कोई न किसी का!' लड़के ने सुना। बाहर आकर साधु से बोला – "बाबाजी! यह बात सही नहीं; मेरा बाप है, माँ है, स्त्री है, मेरे खाना खाये बिना वे खाना तक नहीं खाते, एक घड़ी भी मुझे न देखें तो उन्हें आकुलता हो जाती है।"

बाबाजी ने कहा – "अगर तुम्हें परीक्षा लेनी है, तो कुल तुम साँस रोक कर पड़ जाना और फिर तमाशा देखना।"

लड़के ने यह स्वीकार कर लिया, तब बाबाजी उसे साँस रोकने की कला सिखाकर चले गये।

अक्षले दिन ठीक समय पर लड़का साँस रोककर पड़ गया। घर वाले बाबाजी को ले आये और कहा – किसी तरह हमारे लड़के को जीवित कर दें। माँ ने, बाप ने, स्त्री आदि ने कहा कि हम उसके लिए अपना जीवन देने को तैयार हैं। बाबाजी ने कहा – "जब उसके लिये इतने लोग अपनी जान देने को तैयार हैं तो इसका जिन्दा होना कोई मुश्किल नहीं है।"

बाबाजी ने एक गिलास पानी मंगाया और उसमें मंत्र पढ़कर कुछ राख डाली और कहा- ''जो इसे पियेगा वह मर जायेगा और लड़का ठीक हो जायेगा।''

पहला नम्बर माँ का था, माँ ने सोचा – मैं मर गयी तो क्या बाकी रहेगा, मेरे तो तीन लड़के और हैं, मैं उनमें सब्र कर लूँगी। जब उसने गिलास नहीं पकड़ा तो दूसरा नम्बर बाप का आया। उसने सोचा – जिसने नौ महीने पेट में रखा वही पीने को तैयार नहीं है, तो मेरा क्या ! तीसरा नम्बर स्त्री का आया। उसने सोचा- मर कर क्या होगा, बाप के पास भी पैसा है, ससुर के पास भी, खाने-रहने की तकलीफ तो है नहीं ! इसप्रकार उसने भी हाथ खींच लिया।

अंततः वे सब बोले – बाबाजी आप ही इसको पी लो। लड़का, जो अबतक यह सब सुन रहा था, उठ बैठा और बोला- बाबाजी चलो, ऐसा कहता हुआ बाबाजी के साथ चला गया।

अब हमारी बात है। संसार का यही स्वरूप हम चौबीसों घंटे देख रहे हैं – सभी अपने-अपने स्वार्थ में लगे हुए हैं। फिर भी हम अपना-अपना कहकर अनेक प्रकार के अन्याय-अनाचार करके भोगों की पूर्ति करते रहते हैं। घर के लोगों का भी जबतक हमसे स्वार्थ सधता है तभी तक वे हमें अपना कहते हैं। इतना सब देखते हुए भी यह जीव सावधान होकर अपना कल्याण नहीं करता।

ज्ञान की प्रतिसमय की पर्याय में द्रव्य (भगवान आत्मा) विराजमान है, हमें वह प्रतिसमय दिखता भी है। पर उसकी ओर नजर नहीं होने से वह (भगवान आत्मा) द्रष्टि/अनुभव में नहीं आता।

तालाब में भी मगरमच्छ प्यासा !

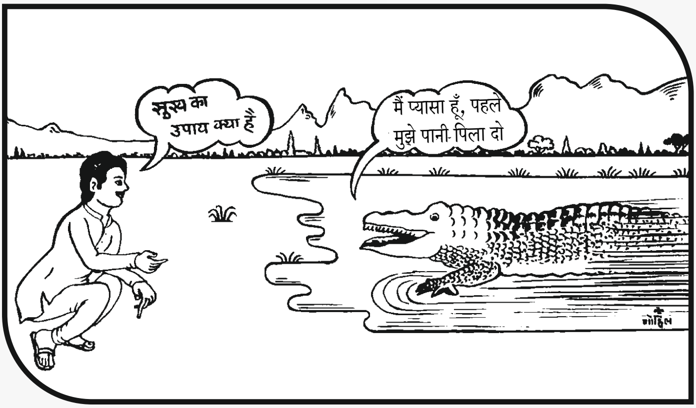

एक तालाब में एक मगरमच्छ रहता था। किसी साधु से एक आदमी ने पूछा – ''महाराज ! आत्मा कैसी होती है?'' आत्मिक सुख कैसा होता है ? तो साधु ने उस मगरमच्छ का हवाला दिया और कहा – ''कुछ रोज पहले मैंने उस मगर को सुख दिया था, तुम उससे ले लो।''

वह आदमी उस मगर के पास गया और बोला कि साधु महाराज ने जो सुख आपको दिया था वह मुझे भी दे दो।

मगर ने कहा – ''मैं प्यासा हूँ, पहले मुझे थोड़ा पानी पिला दो, फिर मैं तुम्हें सुख दूँगा।''

वह आदमी बोला – ''तुम तालाब में रहते हो और फिर भी प्यासे हो?''

मगर बोला – *''यही बात तुम्हारे साथ भी लागू होती है। तुम स्वयं ही आत्मा हो और आत्मिक सुख को बाहर खोज रहे हो। अपने में देखो तो तुम सुखमय ही हो। अपने में नहीं खोजा, बाहर खोजते हो इसलिये आज तक नहीं मिला।''*

आत्मिक सुख स्त्री, पुत्रादि, धन–दौलत में नहीं है। यह तो अपने में है। अपने में खोजो तो मिला हुआ ही है।

मरण निश्चित है !

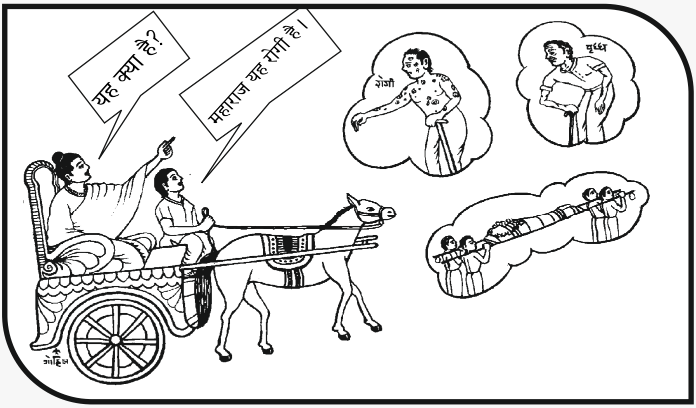

एक बार गौतम बुद्ध अपने राजमहल से निकल कर, रथ में बैठकर घूमने चले। वे अपने जीवन में पहली बार ही बाहर निकले थे। सामने से एक रोगी व्यक्ति आता दिखाई दिया। रोग के कारण उससे चला नहीं जा रहा था।

बुद्ध ने सारथी से पूछा – "यह क्या है, यह व्यक्ति इसप्रकार क्यों चल रहा है?"

उसने कहा "महाराज यह रोगी है।" बुद्ध ने पूछा – "क्या मुझे भी रोग हो सकता है? क्या मेरी भी ऐसी दशा हो सकती है?

सारथी ने कहा– हाँ महाराज!"

रथ आगे चला। थोड़ी दूर पर एक वृद्ध मिला, बहुत बूढ़ा था। बुद्ध ने सारथी से फिर पूछा–"यह कौन है? यह ऐसा क्यों है?"

सारथी ने कहा – "महाराज! यह बूढ़ा हो गया है।"

बुद्ध ने पूछा – "क्या सबको बूढ़ा होना पड़ता है?"

सारथी ने कहा – "हाँ महाराज!" बुद्ध को फिर एक झटका लगा कि मेरी भी ऐसी दशा हो जायेगी तब क्या होगा?

रथ आगे बढ़ा। कुछ लोग एक मुर्दे को ले जा रहे थे। बुद्ध ने

सारथी से पूछा – ‘‘यह क्या है?’’ सारथी ने कहा – ‘‘महाराज ! यह मर गया।’’ बुद्ध ने पूछा – ‘‘क्या सबको मरना पड़ता है?’’ सारथी ने कहा – ‘‘हाँ महाराज! मरना तो सबको ही पड़ता है।’’ बुद्ध को फिर एक झटका लगा कि मेरी भी यही दशा होगी! वे विचार करने लगे कि जिस संसार में रोग होना, वृद्ध होना और अंत में मृत्यु होना निश्चित है वह संसार रहने लायक नहीं है। और इसी प्रकार चिंतन करते हुए वे वैराग्य को प्राप्त हो गये।

अब अपनी बात है। हम भी रोज यह देखते हैं परन्तु हमारे अंतस् में कोई झटका नहीं लगता, क्योंकि हम सोचते हैं कि यह दशा इसकी हुई है, हमारी नहीं होगी ! दूसरे को मरते देखकर यह कहते हैं, 20 वर्ष का मर गया; परन्तु यह नहीं सोचते हम पचास वर्ष के हैं, हम अछूते कैसे घूम रहे हैं ! *अगर संसार की सभी बातें अपने ऊपर घटाना शुरू कर दें तो वास्तव में इस संसार से हमें भी वैराग्य हो जाये। यही सच्चा स्वाध्याय है। शास्त्रों का अध्ययन तो इसी स्वाध्याय के लिये किया जाता है, यही असली स्वाध्याय है; परन्तु हम तो शास्त्र पढ़कर ही संतुष्ट हो जाते हैं।*

सड़क पर चलने वाला भिखमंगा भी हमें शिक्षा दे रहा है कि मैंने पूर्वकाल में सप्तव्यसन का सेवन किया है इसलिये मेरी यह हालत हुई है, तू भी करेगा तो तेरी भी यही हालत होगी। रास्ते चलता पशु भी यह शिक्षा देता है कि मैंने भोगों में आसक्ति की, मायाचारी की, छल-कपट किया, अन्याय, अभक्ष्य का सेवन किया, इसलिए मेरी यह हालत हुई। तू भी करेगा तो तेरी भी यही हालत होगी। अगर शिक्षा लेना चाहें तो शिक्षा अवश्य मिल सकती है, परन्तु हम तो अंधे हैं, दूसरे को देखकर हँसते हैं, अपने विषय में नहीं सोचते।

मैं अपना स्वभाव क्यों छोड़ूँ ?

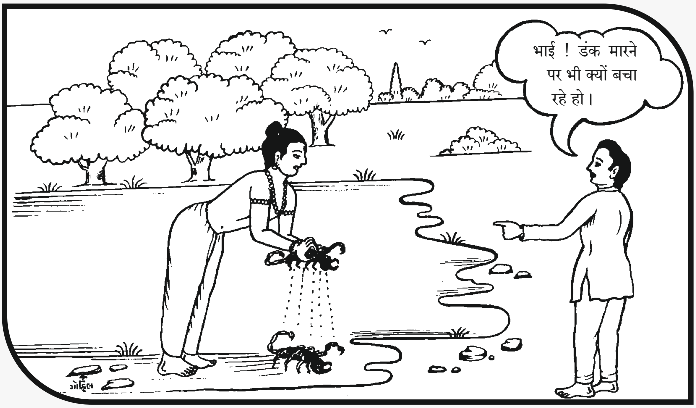

एक साधु बाबा तालाब में नहा रहे थे। उन्होंने देखा कि एक बिच्छू पानी में डूब रहा है। करुणा करके जब वे उसे निकालने लगे तो उसने बाबाजी को डंक मार दिया। साधु बाबा का हाथ हिल गया। बिच्छू पानी में गिर गया। ऐसा कई बार हुआ। बाबाजी उसे बार-बार निकालना चाहते, किन्तु बिच्छू डंक मार देता।

एक आदमी किनारे पर खड़ा यह सब देख रहा था। उसने कहा- ''बाबाजी ! क्या आप मूर्ख हैं ? यह बार-बार डंक मार रहा है, फिर भी आप इसको निकाले जा रहे हैं ?''

बाबाजी ने कहा - जब यह तिर्यंच होकर भी अपना स्वभाव नहीं छोड़ता तो मैं मानव होकर अपना स्वभाव क्यों छोड़ूँ ?

अब अपनी बात - हर एक जीव का अपना-अपना स्वभाव है। जब दुष्ट अपनी दुष्टता नहीं छोड़ रहा है तो हम अपनी सज्जनता कैसे छोड़ें ? यदि हम यह मानते हैं कि यह दुष्ट है इसलिये इसके साथ दुष्टता का ही व्यवहार करना चाहिए, तब तो हम भी उसके साथ दुष्ट ही हो जायेंगे। हमारा कार्य हमारे स्वभाव को दिखा रहा है और उसका कार्य उसके स्वभाव को दर्शाता है। एक को दूसरे के स्वभाव की अपेक्षा नहीं रखना चाहिए, यही सही रास्ता है। हमें अपनी क्रियाओं को, व्यवहार को, दूसरों की क्रियाओं के प्रत्युत्तर-रूप में, उसकी प्रतिक्रिया (रिएक्शन) रूप में नहीं बनाना है। यही शान्ति का मार्ग है।

राग-द्वेषरूपी चक्की

चलती चाकी देख कर, किया कबीरा रोय।
दो पाटन के बीच में, साबुत रहा न कोय।।

एक औरत सुबह–सुबह चक्की चला रही थी। प्रात: भ्रमण के बाद कबीर ने देखा तो विचारने लगे कि सब पीसा जा रहा है ! घर लौटने पर उन्होंने उक्त दोहा रचा और गुनगुनाने लगे। उनका बेटा कमाल भी वहीं बैठा सुन रहा था।

वह बोला – ''रुको, ठीक कहते हो, दो पाटों के बीच कोई भी साबुत नहीं बचा, लेकिन बीच में एक कील भी है, उसके सहारे जो अन्न के दाने लग जाते हैं वे नहीं पिसते, जो भी उस कील का सहारा लेता है वह बच जाता है।'' यहाँ कील के स्थान पर सच्चे देव–शास्त्र– गुरु जानने चाहिए।

इस संसार में राग–द्वेष रूपी दो पाटों के बीच में यह आत्मा पिस रहा है। सर्वप्रथम तो इस अनुभूति का होना जरूरी है कि मैं स्वयं इन दो पाटों के बीच पिसा जा रहा हूँ, इसलिए मैं महादुखी हूँ। यह

अनुभूति हो तो इससे बचने के उपाय हेतु, जो इससे बच चुके हैं –ऐसे सच्चे देव–शास्त्र–गुरु के पास जावें। जहाँ पर यह सम्यग्ज्ञान हो कि परोन्मुखी परिणति जब पर को छोड़कर आत्मा के सन्मुख हो तब इस महादुख से बच सकती है।

हे आत्मन् ! यदि तुम भी अपने चैतन्य स्वभाव का आश्रय धारण करोगे तो फिर तुम्हें भी कोई नहीं पीस पायेगा। चाहे जन्म आए या मृत्यु, चाहे सुख आए या दुःख, तुम इन सबसे दूर अछूते, अलग बने रहोगे।

भोजन–पान करते समय, चलते–फिरते समय, बातचीत करते समय, सोच–विचार करते समय, सोते समय–कभी भी उस कील को मत भूल जाना जो न कभी भोजन करती है, न चलती–फिरती है, न बातचीत करती है, न कभी सोती और न ही विचार करती है। जो विचार रहित होने पर भी सदा सजग है।

दुःख आए तो उसको याद रखना, जिसके पास कभी दुःख नहीं पहुँचता। 'दुःख–सुख, प्रीति–अप्रीति' सफलता, विफलता – ये सभी द्वंद्व चक्के पर हैं; कील के पास रहने वाला दाना पिसने से भले बच जाता हो, पर मुक्ति तो उसकी भी नहीं होती; लेकिन जो दाना उचट कर चक्की से बाहर आ जाता है, वह मुक्त हो जाता है।

इसीप्रकार जो जीव सच्चे देव–शास्त्र–गुरु रूपी कील का निमित्त पाकर अपने निजस्वभाव में स्थिर हो जाता है, वह मुक्त हो जाता है। ऐसे ही द्वंद्वरूपी पाटों एवं सच्चे देव–शास्त्र–गुरु कील से भिन्न जब परिणति अविचल निज चैतन्यतत्त्व में स्थिर होती है, तब

मुक्त हो जाती है।

संसार में कर्म के बंध एवं उदय (राग-द्वेष) की चक्की हरदम चल रही है और सच्चे देव-शास्त्र-गुरु रूपी कील भी अपने स्वरूप में स्थिर है और चैतन्य स्वभाव सदा एकरूप विद्यमान है। तू अपनापन अपने चैतन्य स्वभाव में स्थापित कर और चलती हुई संसार चक्की को देखता रह। तब तेरी भी मुक्ति हुए बिना नहीं रहेगी।

इसीलिए तो कहा है –

चलती चाकी देख कर, दिया कमाल हंसाय।
कील सहारा जो लिए ताकी टले बलाय।।
कील सहारा जो लिए चोट तो वह भी खाय।
सूरा ताको जानिए उचट बाहरें जाय।।

स्थाई सुख प्राप्त करने का भी यही उपाय है। हमारा (जीव का) स्वभाव मात्र जानना-देखना है, हमने उसे अभी तक स्वीकार नहीं किया और हम जानने-देखने के साथ ही राग-द्वेष करने लगे, पर पदार्थों में फेर-बदल करने लगे, किसी को बुरा जानकर हटाने लगे, किसी को भला जानकर अपनाने लगे और अपने सहज अकर्तृत्व ज्ञातृत्व स्वभाव को भूलकर पर को अपनी इच्छानुसार परिणमन कराने लगे। इसलिए दुखी हो रहे हैं।

यदि दुखी नहीं होना चाहते तो अपने ज्ञाता-द्रष्टा स्वभावरूप रहें, किसी परद्रव्य के कर्त्ता-भोक्ता-स्वामी न बनें।

कोई कहे कि परद्रव्यों से सुख होता तो दिखाई देता है, उससे कहते हैं कि सुख तो नहीं होता, सुख का भ्रम होता है। यह अज्ञान है और ज्ञान इस भ्रम को मिटा देता है। जैसे – जल गर्म दिखता है, पर ज्ञान जान लेता है कि गर्मी अग्नि की है, जल की नहीं। देह-धनादि एकमेक दिखते हैं, पर ज्ञान जान लेता है कि देह और आत्मा भिन्न-भिन्न हैं। अत: यह हो ही नहीं सकता कि सांप राम को काटे और जहर श्याम को चढ़े, ऐसे ही शरीर की क्रिया से आत्मा की मुक्ति हो जाय – ऐसा हो ही नहीं सकता, हमें सर्व प्रथम यह समझना होगा।

जहाँ खोया है वहीं खोज !

एक वृद्धा स्त्री (बुढ़िया) अपने घर के अन्दर बैठकर अपने कपड़े सिल रही थी। इतने में ही उसकी सुई खो गई। वह उसे खोजने लगी, पर वहाँ अंधेरा था, अतः उसे सुई मिल नहीं रही थी। उसी समय एक आदमी वहाँ से निकला। जब उसने देखा कि बुढ़िया माँ कुछ खोज रही है तो करुणा करके पूछा – ''माँ! क्या कर रही हो?''

बुढ़िया बोली – ''बेटा ! मेरी सुई खो गई है। उसे खोज रही हूँ।'' वह आदमी बोला – ''मगर माँ ! यहाँ तो अंधेरा हो रहा है। अंधेरे में कैसे मिलेगी ? उजाले में खोजो।'' घर के बाहर बहुत उजाला था अतः बुढ़िया वहाँ आकर सुई खोजने लगी।

यही हालत हमारी है। हमारी आँखें बाहर की तरफ देखती हैं, हमारी इन्द्रियों का व्यापार बाहर की तरफ है, इसलिए हम अपना सुख बाहर खोजते हैं; परन्तु यह नहीं सोचते कि सुख है कहाँ ? वास्तव में अंतर में है और खोज रहे हैं मंदिर में, तीर्थों में, अन्य जगह पर, भला कैसे मिले ? शास्त्र में आत्मा नहीं है। शास्त्र के द्वारा आत्मा के बारे में समझ कर जहाँ चैतन्य है वहाँ देखने से मिलता है। इसी प्रकार प्रतिमा के माध्यम से निज चैतन्य को समझ कर जहाँ है वहाँ देखना चाहिए।

सभी अपनी आग में जलते हैं

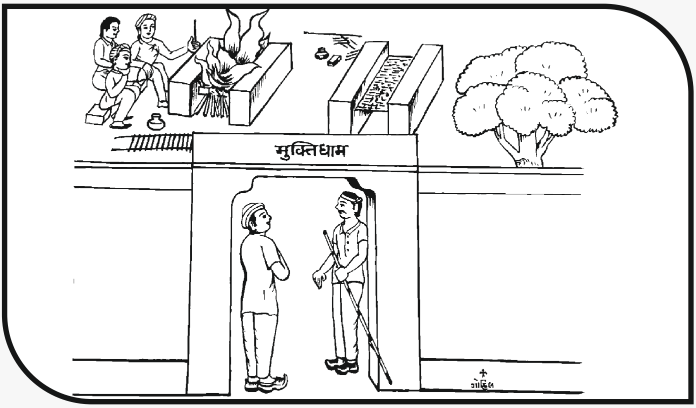

एक बाबाजी यज्ञ करना चाहते थे, इसलिए उन्होंने अपने शिष्य को आग लाने के लिए कहा। शिष्य चारों तरफ खोजकर आ गया बोला – ''आग तो कहीं भी मिल नहीं रही।'' बाबाजी ने कहा कि आग तो कहीं न कहीं से लानी ही पड़ेगी। बाबाजी के आदेशानुसार शिष्य ने एक बार फिर सब ओर जाकर अच्छी तरह से खोजा, परन्तु उसे आग न मिली। आकर उसने बाबाजी से फिर निवेदन किया कि – ''महाराज ! आग नहीं मिल रही।'' बाबाजी ने क्रोध में कहा –

''यदि कहीं नहीं मिलती तो श्मसान से ही ले आ।'' शिष्य गुरु महाराज की आज्ञा का पालन करते हुए श्मसान में आग लेने के लिए गया, क्योंकि जहन्नुम में तो आग हर वक्त ही जलती रहती है।

उसने वहाँ जहन्नुम के दरवाजे पर खड़े द्वारपाल से कहा – ''हमें यज्ञ के लिए आग ले जानी है; थोड़ी–सी दे दोगे? सुना है कि यहाँ तो आग निरन्तर जलती रहती है !'' द्वारपाल ने उत्तर दिया – ''यहाँ पर आग कहाँ, यहाँ पर तो जो लोग आते हैं वह अपनी–अपनी आग साथ लाते हैं। सभी अपनी–अपनी आग में ही जलते हैं।''

क्या यही बात हम पर भी लागू नहीं हो रही? हम भी अपने-अपने क्रोध, मान, माया-लोभ की आग में स्वयं को जला रहे हैं। जरा अपने भीतर झांक कर गौर से देखें तो पायेंगे कि हम सब अपनी-अपनी कषाय रूपी आग में ही जल रहे हैं और दुःखी हो रहे हैं। कोई आदमी जल्दी में चला जा रहा था, हमको नहीं देख पाया, हमारी मान कषाय को धक्का लगा और हम सोच रहे हैं कि अब वह बड़ा आदमी हो गया, मेरे किए हुए उपकार को भूल गया, मेरी तरफ देखा भी नहीं। आपकी रोटी जहर हो गयी, आपका नींद हराम हो गयी।

ऐसा क्यों हुआ? ऐसा इसलिए हुआ, क्योंकि आप अपनी मान कषाय की आग में जल रहे हैं।

हम चाहें तो अपने जीवन को स्वर्ग बना सकते हैं और चाहें तो स्वर्ग को भी नरक बना सकते हैं। इसमें कोई दूसरा कारण नहीं है - हम स्वयं ही कारण हैं।

जो कुछ भी है उपलब्ध हमें, उनको ही हम सुख मान रहे,
वह सुख का साधन है या फिर, सुख का उसमें है कोरा भ्रम,
वह नहीं सुखमयी सुखदाता, वह तो कम दुख जानो भ्राता
जो कम होता वह बढ़ जाता, फिर वह दुख, सुख कैसे होगा?
जो है सुख से ही भरा हुआ, उसका इससे कैसा नाता ?
हे आत्मन् ! निज की ओर लखो, सुख का भण्डार वहीं तो है
फिर नहीं जरूरत है पर की, निज का श्रृंगार वहीं तो है।

जहाँ परिग्रह है वहाँ डर ही डर है!

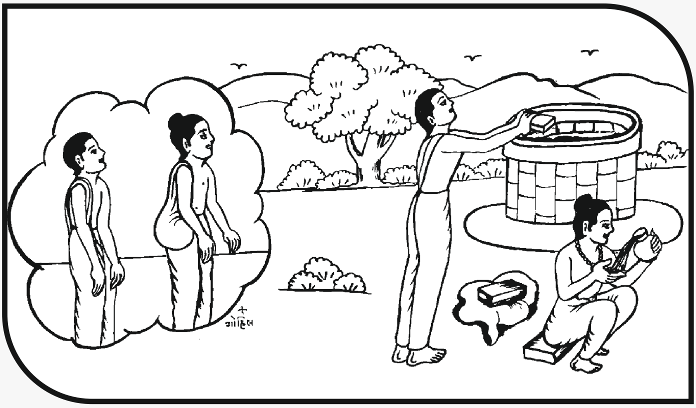

दो साधु जंगल में जा रहे थे। एक गुरु, दूसरा उसका चेला। रात्रि का समय था। आगे-आगे गुरु जा रहा था, पीछे-पीछे शिष्य। गुरु के पास कंधे पर एक थैला था।

गुरुजी कहते जा रहे थे - ''चेला! रात अंधेरी है, रास्ता भयानक है, बड़ा भय है, गाँव जल्दी पहुँचना है।'' चेला सोच रहा था कि हम ठहरे साधु और साधु के पास कुछ नहीं होता फिर उनको भय किस बात का हो सकता है ? पता नहीं आज गुरुजी को किस बात का भय हो गया है। थोड़ी दूर आगे चलकर एक कुँआ आया। गुरुजी ने थैला चेले को दे दिया और स्वयं हाथ-मुँह धोने लगे। चेले ने थैला खोल के देखा कि उसमें एक सोने की ईंट थी। चेले को भय का कारण मालूम हो गया। उसने उस सोने की ईंट को कुँए में फेंक कर एक साधारण ईंट रख दी।

गुरुजी हाथ - मुँह धोकर, थैला लेकर आगे चले, कुछ देरी बाद फिर बोले - ''चेले ! रास्ता बड़ा भयानक है, बड़ा भय है।''

चेले ने कहा, ''अब कोई भय नहीं, भय को पीछे कुँए में फेंक दिया है।'' गुरुजी ने जल्दी से थैला खोला तो देखा पत्थर की ईंट है।

उन्होंने उसे फेंक दिया और हँसकर बोले' – ''चेले ! अब गाँव पहुँचने की जरूरत नहीं है, यहीं आराम कर लेते हैं। अब कोई भय नहीं है।''

सबेरे उठने पर चेले ने कहा – ''गुरुजी! आप बड़े त्यागी हैं, आपने ईंट को एक कुँए में फेंक दिया।'' गुरुजी ने कहा – ''जब पत्थर ही दिखाई दे गयी तो उसका त्याग करना नहीं पड़ता। वह अपने आप छूट जाती है।''

हम लोग त्याग की महिमा गाते हैं, क्योंकि अभी हमें ईंट सोने की दिखाई दे रही है जबतक हमें त्यागे हुए पदार्थ की महत्ता नज़र आ रही है तबतक उस किए गए त्याग का अहंकार भी नहीं मिट सकता। असली त्याग तो तब है जब संसार के सारे पदार्थ, दान-धन-वैभव निरर्थक दिखाई देने लगे तब छोड़ा नहीं जाता, छूट जाता है। निःसार पदार्थ का बोझ कौन ढोयेगा, याद भी नहीं रहता कि कहाँ छूट गया। ***यह तभी सम्भव है कि जब हमें सार वस्तु का ज्ञान हो। अभी तो हमने संसार के वैभव को सार समझ कर, जो वस्तुतः सार है हमारा आत्मतत्त्व, उसे असार समझकर भूल रखा है। जब उस आत्मतत्त्व में सार दिखाई दे तो समस्त बाह्य वैभव स्वयं ही छूट जाता है।*** यदि इसप्रकार आत्मतत्त्व के ग्रहणपूर्वक पर-पदार्थों के निःसार बोझ का त्याग होता है, तब न तो इस बात के विज्ञापन की जरूरत होती है कि पहले इकट्ठा किया हुआ कितना कूड़ा हमने फेंका और न ही उस त्याग की याद रखी जाती है।

पर एवं पर्याय पर लक्ष्य होने से समीप में त्रिकाली द्रव्य मौजूद होने पर भी उस पर लक्ष्य नहीं जाता।

नाव खूंटे से बंधी है

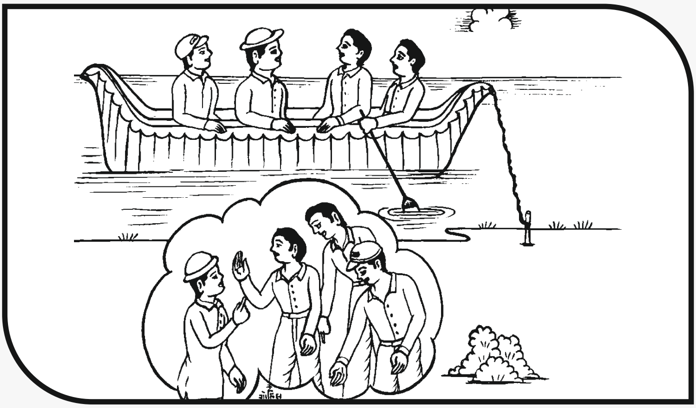

एक रोज संध्या के समय जब रात्रि होने वाली थी, पूर्ण चाँद उगने वाला था, चार दोस्तों ने डटकर भांग पी ली और रात्रि में नाव से नदी में घूमने निकले। भांग का नशा चढ़ गया था। रात्रि भर नाव खेते रहे। जब सबेरा होने को आया तब नशा कम हुआ। एक ने पूछा कि नीचे उतरकर देखें तो सही हम लोग कहाँ तक आ गये हैं ? वह नीचे उतरा, देखा और हँसने लगा। दूसरे ने पूछा क्यों हँसता है, बताता क्यों नहीं, कहाँ आ गये हैं? उसने कहा कि अगर तुम भी उतर कर आवोगे तो हँसे बिना नहीं रहोगे। वह भी नीचे उतरा और देखता है कि नाव खूंटे से बँधी पड़ी है। रात भर खेने के बाद भी वहीं की वहीं खड़ी है।

अब सोचिए - क्या यह हमारी बात नहीं है? अगर आत्म-दर्शन नहीं किया, शरीर से भिन्न अपने चैतन्य स्वभाव को अपने रूप अनुभव नहीं किया तो फिर चाहे कितने ही शास्त्रों का पठन-पाठन व्रत, उपवास आदि करते रहें, मुनिपना भी पालन करें और समझते रहें कि हमने जीवन पर धर्म का सेवन किया है, परन्तु जब तत्त्वदृष्टि से देखेंगे तब पायेंगे कि इनमें हमें पापबंध की जगह पुण्यबंध तो कदाचित्

हुआ, कषायें तो दबीं परन्तु नष्ट नहीं हुई। हम उसी को मोक्षमार्ग मानकर संतुष्ट हो गये हैं। इतना ही हुआ कि लोहे की बेड़ी की जगह सोने की बेड़ी से बंध गये, परन्तु बंधन का नाश नहीं हुआ। हम संसार रूपी खूंटे से बंधे पड़े हैं। वहीं के वहीं खड़े हैं। हमने मात्र परहेज ही किया है दवाई नहीं खाई है। दवाई तो भेद-विज्ञान है। व्रतादि तो परहेज के समान हैं। परहेज दवाई के साथ ही होता है। हमने भेद-विज्ञान रूपी दवाई का सेवन नहीं किया, परन्तु मात्र परहेज ही करते रहे और उसी को दवाई मान लिया है। इसलिए हमारा राग-द्वेष नहीं मिट सका। नाव वहीं का वहीं खड़ी है।

शास्त्रों में कहा है कि भोगों में सुख नहीं है, परन्तु आता तो उनमें से ही दिखाई देता है – ऐसी स्थिति में क्या करें?

तब विचार करना चाहिए कि इन्द्रियों से जो दिखता है, वह होता नहीं है और जो होता है वह दिखता नहीं है। जैसे-

1. जंगल में कस्तूरी नहीं होती, पर दिखती है।
2. चलती रेल में पेड़ चलते दिखते हैं, चलते नहीं हैं।
3. रेगिस्थान में पानी नहीं होता, पर दिखता है।
4. शरीर, धनादिक व पुत्रादिक मेरे हैं नहीं, पर दिखते हैं।
5. माता-पिता, गुरु होते अच्छे हैं, पर दिखते नहीं।
6. जगत पीला नहीं होने पर भी पीलिया के रोगी को पीला दिखता है।
7. चालाक मनुष्य शरीफ दिखता है, पर होता नहीं।
8. हड्डी में खून होता नहीं, पर कुत्ते को दिखता है।
9. ज्ञानादि मेरे हैं, पर दिखते नहीं।
10. उड़ता हुआ हवाई जहाज छोटा दिखता है, पर होता नहीं।

इसका कारण हमारी भ्रमबुद्धि है, कोई परद्रव्य नहीं। उस भ्रमबुद्धि सम्यग्ज्ञान से दूर करना चाहिए।

सामान तो बचा लिया किन्तु मालिक मर गया

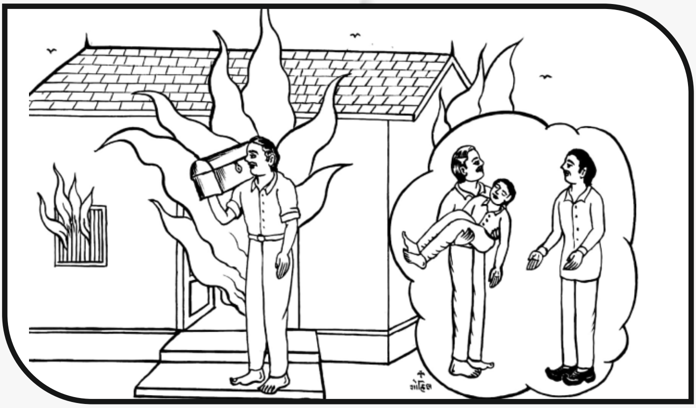

एक मकान में आग लग रही थी। लोग सामान निकाल रहे थे। मालिक बाहर खड़ा रो रहा था कि थोड़ी देर में सब राख हो गया। लोगों ने अंतिम बार आकर पूछा कि कुछ बाकी तो नहीं रह गया है, सब चीजें निकाल ली हैं न? मालिक ने कहा – ''मुझे कुछ याद नहीं आता; जो बचाया जा सके बचा लो।'' लोग भीतर गये, वापिस आये तो मालिक के इकलौते बेटे के शव को लाए। लोग मकान का सामान बचाने में तो लगे थे, परन्तु मकान का एकमात्र मालिक जलकर मर रहा था।

यही हमारी हालत है। हम सामान को, परिग्रह को तो बचा रहे हैं और भीतर में बैठा मालिक मर रहा है। परपदार्थ/परवस्तुओं में, इतने लीन हैं कि अपने आप को भूल गये हैं; यही आत्मघात है। धन के लिए, शरीर के लिए, स्त्री–पुत्र के लिए, अनेक प्रकार की बेईमानी, झूठ, अन्याय करके उनको इकट्ठा करना चाहते हैं, उनको बचाना चाहते हैं। अपने आत्मतत्त्व की हत्या उन चीजों के लिए कर रहे हैं। यह विचार नहीं आता कि जो कार्य मैं कर रहा हूँ उसके द्वारा मेरे आत्म–स्वभाव का घात हो रहा है। जो चीज़ कायम नहीं रहने वाली है उसके लिए उसका घात कर रहा हूँ जो शाश्वत है।

देना उसके आधीन, लेना हमारे आधीन

एक साधु एक गांव से गुजर रहे थे। कुछ अज्ञानी लोगों ने भीड़ लगा ली और उन्हें बहुत गालियाँ दी। साधु ने कहा – ''भाइयो ! तुम्हारा काम पूरा हो गया हो तो मैं आगे जाऊँ ?''

उन लोगों ने कहा कि हम लोग गालियाँ दे रहे हैं क्या आपकी समझ में नहीं आतीं ?

साधु ने कहा– ''तुम गालियाँ दे रहे हो, वह मैं समझ गया। लेकिन मैंने गालियाँ लेना बन्द कर दिया है। तुम्हारे देने से क्या होगा, जबतक मैं लूंगा ही नहीं ? अब मैं जाग गया हूँ, इसलिये जागकर कोई गलत चीज़ कैसे ले सकता है ? जब आदमी बेहोशी में चलता है, तब पैर में कांटा लग जाता है, अगर देखकर चले तो कांटा कैसे लग सकता है ? पिछले गाँव में कुछ लोग मिठाइयाँ लेकर आये थे, मैंने कहा कि मेरा पेट भरा है, वे लोग अपनी मिठाई अपने घर ले गये और आपस में बाँट कर खा ली। तुम लोग गालियाँ लेकर आये हो और मैं ले नहीं रहा हूँ; अब तुम उन गालियों का क्या करोंगे; किसको बाँटोगे? मैं ले नहीं सकता अतः वे आपके पास ही रह जायेगी।''

अब हमारी बात है। दूसरा कुछ भी देने आवे परन्तु यदि हम नहीं लेते हैं तो वह चीज़ उसी के पास रह जाती है। देना उसके आधीन है, परन्तु लेना हमारे आधीन है। जब हम लेते हैं तब यह कह दिया जाता है कि उसने दे दी। गलती लेने वाले की है, चाहे गालियाँ हों, सुख–दुःख, मान–अपमान कुछ भी हो।

बंधे एक रागादि अशुद्ध उपयोग से

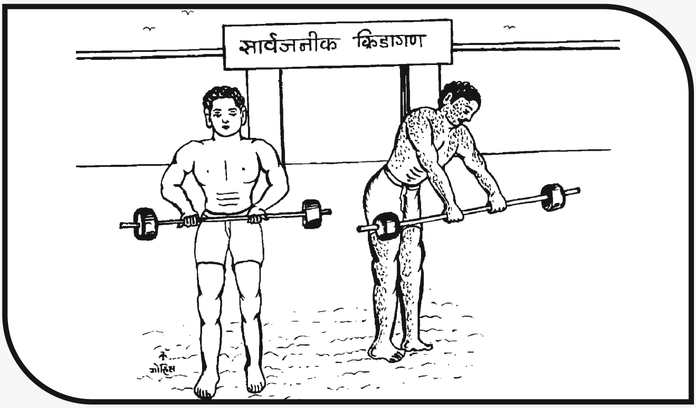

दो आदमी किसी अखाड़े में कसरत करने के लिये गये। उनमें से एक ने तो शरीर पर तेल मालिश की हुई थी, जबकि दूसरे ने तेल आदि कोई चिकना पदार्थ नहीं लगा रखा था। दोनों ने अखाड़े की बहुत धूलियुक्त भूमि पर अनेक तरह के व्यायाम किये, मुद्‌गर, गदा, भाला, फरसा इत्यादि नाना प्रकार के हथियार चलाये तथा पेड़–पौधों आदि को उखाड़ फेंका। व्यायाम पूरा होने के बाद देखा गया कि जिस आदमी ने तेलमर्दन किया हुआ था उसको तो मिट्टी खूब चिपक गई थी, जबकि दूसरे आदमी को – जिसने कोई स्निग्ध पदार्थ नहीं लगाया हुआ था कुछ मिट्टी तो जरूर लगी, लेकिन चिपकी नहीं, झाड़ने से उतर गई।

धूलिबन्ध अर्थात् मिट्टी चिपकने का कारण वास्तव में क्या है, इस पर विचार करते हैं। दोनों आदमियों ने समान रूप से व्यायामादिक सभी क्रियाएँ की। मिट्टी चिपकने का कारण यदि अखाड़े की बहुत धुलियुक्त भूमि होती तो धूलिबन्ध दोनों के होना चाहिये था; तरह–तरह का व्यायाम करने से यदि धूलिबन्ध हुआ तो भी दोनों के होना चाहिये था; नाना प्रकार के शस्त्रों को चलाने से ही

यदि मिट्टी चिपकी तो भी दोनों के चिपकनी चाहिये थी; इत्यादि। इसप्रकार, विश्लेषण से निश्चित हुआ कि इस आदमी के तेलमर्दन होना ही धूलिबन्ध का कारण है।

इसी प्रकार, कर्मवर्गणाओं रूपी धूलि से भरे हुए इस लोकरूपी अखाड़े में स्थित और काय-वचन-मन की नाना चेष्टाओं में रत ***इस जीव के कर्मरूपी रज से बँधने का वास्तविक कारण राग रूपी चिकनाई है।*** जिस जीव के जितना राग, जितना मोह, जितना ममत्व है, उसी के अनुपात में उसके कर्मबन्ध होता है। जिसके जितनी अधिक आसक्ति है, उसके उतना ही गहरा कर्मबन्ध होता है - उस जाति का नया संस्कार चेतना पर पड़ जाता है; अथवा यह कि वह समान जाति के पूर्व संस्कार को और भी पुष्ट कर देता है।

कर्मबंध का वास्तविक कारण कौन है ?

एक मात्र आत्मा का अशुद्धोपयोग है।

कर्मजाल वर्गना सौं जग में न बंधै जीव,
बंधै न कदापि मन-वच-काय जोग सौं।
चेतन-अचेतन की हिंसा सौं न बंधै जीव,
बंधै न अलख पंच विषै-विष रोग सौं।।
कर्म सौं अबंध सिद्ध, जोग सौं अबंध जिन,
हिंसा सौं अबंध साधु ज्ञाता विषै-भोग सौं।
इत्यादिक वस्तु के मिलाप सौं न बंधै जीव
बंधै एक रागादि अशुद्ध उपयोग सौं।।

समयसार नाटक, बंध अधिकार, १७४/४

स्वर्ग में नारद

इह संसार महा-वन भीतर, भ्रमते ओर न आवै।
जामन-मरण जरा दव दाझै, जीव महादुख पावै॥
कबहूँ जाय नरक थिति भुंजै, छेदन-भेदन भारी।
कबहूँ पशु परजाय धरै तहँ, बध-बंधन भयकारी॥
सुरगति में पर सम्पत्ति देखै, राग उदय दुख होई।
मानुष योनि अनेक विपतिमय, सर्व सुखी नहिं कोई॥

एक बार नारदजी भ्रमण करते हुए एक देव से मिले। उन्होंने देव से पूछा– कि आपके रहने के स्थान भी क्या हमारे मनुष्य लोक की तरह ही हैं ? देव ने उत्तर दिया– हमारे तो बहुत सुन्दर और विशाल भवन हैं। तब नारद ने कहा, हे देव ! मर्त्यलोक में तो ठीक से रहने को भी जगह नहीं है, झुग्गी झोपड़ियों में जगह नहीं मिलती और आप स्वर्ग में अकेले रहते हैं। तब देव ने कहा कि यदि कोई हमारे देवलोक में आने को तैयार हो तो उसे ले आइये। आप चाहे जितने व्यक्ति बेझिझक ले आइये, हमें कोई दिक्कत नहीं है।

नारद बहुत खुश हुआ और खुशी–खुशी मर्त्यलोक आकर सबसे पहले बनारस पहुँचा। वहाँ सवेरे–सवेरे लोग गंगा स्नान करने जा रहे थे। भगवान का नाम लेते जाते थे। नारद एक आदमी के पास पहुँचा और धीरे से बोला कि आप स्वर्ग चलोगे? वह आदमी गुस्से में आकर बोला कि स्वर्ग तू अपने बाप को भेज, मेरे तो बाल–बच्चे हैं। नारद और कई लोगों के, साधु सन्तों के भी पास गया, परन्तु नारद की सभी जगह पिटाई हुई। कोई स्वर्ग जाने को तैयार नहीं था। अन्त में एक बूढ़े आदमी से नारद ने कहा आपकी उम्र तो बहुत हो गई है, स्वर्ग

चलेंगे? उसने कहा कि भाई दो साल बाद आना अभी मैंने अपने लड़कों का विवाह किया है, उनके पुत्र आदि हो जाने दो तो फिर चलूँगा। नारद ने सोचा चलो एक आदमी तो मिला। दो साल बाद नारद उसके पास पहुँचा तो देखा कि उससे चला–फिरा नहीं जाता। लड़के खाने–पीने कि भी परवाह नहीं करते।

नारद ने कहा – अब चलेंगे? उसने कहा कि अभी पौते छोटे हैं। सँभाल रखता हूँ, कुछ बड़े हो जाने दो फिर चलूँगा। कुछ दिन बाद नारद आया तो पता लगा कि वह आदमी मर गया है, और मरकर अपने घर के बाहर कुत्ता हुआ है। नारद उस कुत्ते के पास पहुँचा और कहा कि अब क्या विचार है? उसने कहा कि घर के बाहर बैठा पहरा दे रहा हूँ, बच्चे अभी छोटे हैं। इतने में बड़ा लड़का आया और उसने एक लाठी मारी। वह कुत्ता हाय–हाय करने लगा। नारद ने कहा– यह हालत है, अब भी नहीं चलते। उसने कहा– लड़का मुझे अपना बाप नहीं मानता, परन्तु मैं तो उसको अपना बेटा मानता ही हूँ। मुझे तो उनकी सँभाल रखनी है।

अब अपनी बात है। क्या यह हालत हमारी नहीं है ? बेईमानी अन्याय करके अपना पेट काटकर बच्चों के लिये पैसा इक्कठा करते हैं। जब वह बड़े हो जाते हैं, तब खाने को भी नहीं पूछते। जानते हैं कि मरने के बाद इनका और हमारी चेतना का कोई सम्बन्ध नहीं रहेगा, फिर भी अनेक उपाय करके अपने लड़कों का ही नहीं उनके लड़कों बच्चों तक के लिये इन्तजाम करके जाने की चेष्टा करते हैं। जो समय आत्मकल्याण में लगाना था। वह उनकी देख–रेख में लगाते हैं।

२४ घंटे उनकी चिन्ता और विकल्प करते-करते पर्याय पूरी कर देते हैं। और अपने लिये अनन्त संसार तैयार कर लेते हैं।

अपने घर में आग लगा ली

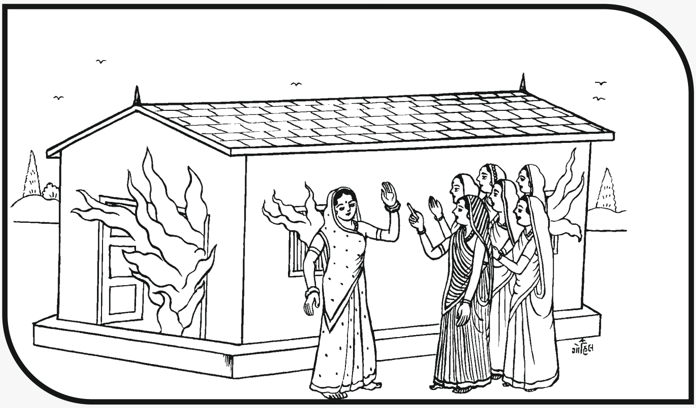

एक स्त्री ने एक नया कंगन बनवाया और उसे पहनकर वह अड़ोस-पड़ोस में सब जगह घूम आई, परन्तु किसी ने यह नहीं पूछा कि यह नया कंगन कब बनवाया, बड़ा अच्छा है। अतः उसने शाम को अपने घर में आग लगा ली और कंगन वाले हाथ को ऊँचा करके चिल्लाने लगी कि आग लग गयी, आग लग गयी। आदमी इकट्ठे होने लगे। एक स्त्री ने उससे पूछा – ''यह नया कंगन आज ही बनवाकर पहना है क्या? बड़ा अच्छा है।'' उस स्त्री ने कहा – ''पहले पूछ लेती तो घर में आग नहीं लगानी पड़ती।''

अब हमारी बात है। क्या यह हालत हमारी नहीं है? हम लोग अपना अहं पुष्ट करने को क्या-क्या नहीं करते। हमारा खाना-पीना, कपड़े पहिनना आदि सभी पर को दिखाने के लिये हैं। लोग बाहर जाते हैं, मेकअप करते हैं, कपड़ा बदलते हैं, मात्र दिखाने के लिये। फिर यह अपेक्षा करते हैं कि दूसरा हमसे पूछे कि – यह कहाँ से खरीदा, अच्छा है आदि। अगर कोई नहीं पूछता है तो मन कमजोर हो जाता है। अनेक प्रकार के दिखावे के उपाय करते हैं। इससे आत्मा का घात होता है, मायाचारी आती है। आत्मा का घात करके भी चौबीसों घंटे अपने अहं को पुष्ट करना चाहते हैं। *यह क्या अपने घर में आग लगाना नहीं है? हमें समझना चाहिए कि इस अहं की कीमत बहुत बड़ी देनी पड़ती है।*

राजगृह के तीन मित्र

राजगृह नगरी में तीन मित्र थे। उन्होंने यह निश्चित किया कि जिसको पहले वैराग्य होगा, वह बाकी दो को खबर कर देगा। संयोग से उनमें से एक को वैराग्य हो गया। वह घर का त्याग करके दीक्षा लेने से पूर्व अपने पहले मित्र के पास गया। वह मित्र राजगृह नगरी का सबसे बड़ा धन कुबेर था। तिजोरी खुली हुई थी। लाखों मोहरें पड़ी हुई थी। लेन–देन चालू था। उसी समय वह मित्र आया और अपने मित्र से बोला कि मैं तो जा रहा हूँ।

उस धन कुबेर मित्र ने कहा – चलो मैं भी चलता हूँ।

पहले मित्र ने कहा कि इन सबको किसी को सँभला दो, फिर चलो। उसने कहा कि यह तो पहले भी मेरा नहीं था, अब भी मेरा नहीं है जिसका होगा वह जाने। मेरा अपना तो अपने सिवाय कुछ था ही नहीं। वह मित्र सब कुछ वैसे ही छोड़कर उसके साथ चल पड़ा। वह दोनों अपने तीसरे मित्र के पास पहुँचे। उस दिन उसकी शादी हुई थी, वह पत्नी के साथ घर पर बैठा वार्तालाप कर रहा था, उन दोनों ने उसको पुकारा। वह नीचे आया। उन दोनों ने कहा कि हम दोनों तो

गृहस्थी का त्याग करके जा रहे हैं। वह भी उनके साथ चलने को तैयार हो गया। उन दोनों ने कहा – भीतर जाकर कह तो आ। उसने कहा जो मेरे भीतर है उसको पूछ लिया, मकान के भीतर मेरा अपना कोई नहीं है, किससे पूछूँ ? तीनों मित्रों ने जंगल में जाकर आचार्य के पास मुनि दीक्षा ले ली।

अब अपनी बात – जिन्होंने अपने एक अकेले चैतन्य के अलावा पर में स्त्री-पुत्रादि, धन आदि, शरीर आदि में अपनापना मान रखा है, उनको छोड़ने में कठिनाई होती है, और छोड़ने पर भी भीतर से अपनापना नहीं छूट पाता। इसलिये वे तो बंधे हुए ही हैं। परन्तु जिन्होंने अपने आपको पर से भिन्न जान लिया है। उनके लिये उनकी दुकान धन-दौलत उनकी नहीं है। स्त्री-पुत्र आदि भी पर हैं। एक मेले में अथवा धर्मशाला में इकट्ठे ठहरे हुए हैं। बंधे हुए नहीं हैं, छूटे हुए ही हैं। अतः भीतर से तो अपनापना नहीं है। बाहर से धागा जुड़ा था, उसको तोड़ने में कोई अड़चन नहीं होती। मात्र मौका मिलना चाहये। हम भी गृहस्थ में रहते हुए अपने आपको सबसे अछूता रख सकते हैं। इसी का नाम घर में वैरागी है। कहा भी है–

पूरव अवस्था जे करम बंध कीने अब,
तेई उदय आई नाना भाँति रस देत हैं।
केई शुभ साता केई अशुभ असाता रूप,
दुहू सौं न राग न विरोध समचेत हैं॥
जथाजोग क्रिया करैं फल की न इच्छा धरैं।
जीवन-मुकति कौ बिरद गहि लेत हैं,
यातैं ज्ञानवंत को न आस्रव कहत कोऊ,
मुद्धता सौं न्यारे भये सुद्धता समेत हैं॥

– *समयसार नाटक ७/१२*

निर्मोही नगरी!

एकबार एक राजकुमार जंगल में रास्ता भूल गया और भटकता हुआ किसी साधु के आश्रम में जा पहुँचा। साधु ने उसका यथोचित सत्कार किया और उसका परिचय पूछा।

राजकुमार बोला – ''मैं निर्मोही नगरी के निर्मोही राजा का ज्येष्ठ पुत्र निर्मोही युवराज हूँ, वन में रास्ता भूलकर आपके आश्रम तक आ पहुँचा हूँ।''

परिचय सुनकर साधु आश्चर्यचकित हुआ कि राजा निर्मोही, युवराज भी निर्मोही और यहाँ तक कि सारी नगरी ही निर्मोही। उसकी उत्सुकता इतनी बढ़ गई कि इस बात की जाँच करने के लिये राजकुमार को वहीं बैठाकर वह स्वयं उस नगरी में जा पहुँचा। नगरी के प्रवेशद्वार में घुसते ही उसने देखा कि छोटा राजकुमार हाथी पर सवार हुआ आ रहा है। साधु को देखकर राजकुमार नीचे उतरा और उसे नमस्कार किया।

साधु ने उससे कहा–''तुम्हारे लिये एक बुरी खबर है, तुम्हारा बड़ा भाई वन में गया था। वहाँ एक शेर ने उसे मार डाला।''

राजकुमार बोला – ''महाराज! एक वृक्ष पर दो आम लगे थे; एक गिर गया, दूसरा अभी लगा हुआ है। गिरने वाला आम दूसरे को जता रहा है कि एक दिन तुझे भी गिरना है। आपने इस तनिक–सी बात के लिये व्यर्थ ही इतना (सूचनार्थ यहाँ आने की) कष्ट उठाया।''

साधु ने विचार किया– यह राजपुत्र तो वास्तव में ही निर्मोही है, तो भी अन्य लोगों की परीक्षा के लिये भी आगे चलना चाहिए।

आगे चलने पर साधु को एक स्त्री दिखाई पड़ी। वह युवराज्ञी की दासी थी और पूजा के लिये फूल लेने जा रही थी। साधु ने उसे भी वही बात कही। दासी ने उत्तर दिया–'महाराज! जो फूल सबेरे खिला है वह संध्या के समय मुरझायेगा ही। इसमें आश्चर्य की क्या बात? यह तो निश्चित है।'

दासी का जवाब सुनकर साधु का आश्चर्य और बढ़ गया कि यहाँ की तो दासी भी निर्मोही है। साधु पुनः आगे बढ़ा और युवराज्ञी के महल में जा पहुँचा। उसने साधु को आसन पर बैठाया और आने का प्रयोजन पूछा।

साधु बोला –"तुम्हारे लिये अत्यन्त दुःखद समाचार है, तुम विधवा हो गई हो।"

युवराज्ञी ने कहा –"महाराज! हमारा विवाह तो दो व्यक्तियों का संयोग मात्र था और यह तभी निश्चित था कि दोनों में से एक को तो पहले जाना ही होगा, चाहे पत्नी पहले जाए अथवा पति ! जहाँ संयोग होता है वहाँ वियोग भी अवश्य ही होता है, इसमें दुःख की क्या बात है ?" साधु निरुत्तर हो गया और वहाँ से चलकर राजकुमार की माँ के पास पहुँचा। वहाँ भी उसने युवराज के आकस्मिक मरण की कहानी दोहराई।

रानी बोली –"महाराज ! पुत्र को जब मैंने पहली बार गोद में लिया था, आयु तो उसकी तभी से एक-एक क्षण करके कम होने लगी थी, सो अब वह खत्म हो गई। इसमें अनहोनी कैसी? जो उत्पन्न होता है वह अवश्य मरता है, संसार का ऐसा ही नियम है।" साधु चुपचाप वहाँ से निकलकर राजा के दरबार में पहुँचा। राजा के पास पहुँच कर साधु ने एकबार फिर वही खबर सुनाई।

राजा बोला– "महाराज ! आज तक संसार में कोई भी अमर नहीं हुआ। संयोग के साथ वियोग, जन्म के साथ मरण, उत्पत्ति के साथ विनाश अवश्यम्भावी है; इन्हें न कोई रोक सका है, न रोक सकता है और न ही कभी रोक सकेगा–यह सृष्टि का शाश्वत नियम

है।'' साधु ने जब इसप्रकार देखा कि वास्तव में यह तो नगरी ही निर्मोही है, जहाँ राजा-प्रजा सभी निर्मोही हैं, तो वह नगरी से वापिस अपने आश्रम को लौट पड़ा। रास्ते में सोचता गया कि बस अब तो युवराज के निर्मोह की थाह लेनी बाकी है।

आश्रम पहुँच कर साधु युवराज से बोला – ''मेरे लौटने में देरी हो गई, उधर तुम्हारी नगरी में आग लग गई थी जिसमें तुम्हारे माँ-बाप, पत्नी, भाई सभी जल गये। केवल कुछ लोग बचे हैं, उनकी व्यवस्था करने में देर हो गई।''

राजकुमार ने उत्तर दिया – ''महाराज ! किसका बाप, किसकी माँ, किसकी पत्नी और किसका भाई? ये सब इस शरीर के साथ यहीं रह जायेंगे।''

ऐसी है देखो, भेदज्ञान की महिमा ! यदि यह जीव शरीर व आत्मा को अलग-अलग समझ कर स्वयं को शरीर से भिन्न चैतन्यरूप देखे, अनुभव करे तो दुःख-सुख होने का प्रश्न ही न उठे। ***शरीर और आत्मा कभी एक नहीं होते! आत्मा का स्वभाव अलग है, शरीर का स्वभाव अलग।*** चीनी को यदि पानी में मिला दें तो भी न चीनी अपने मीठेपन को छोड़ती है और न पानी अपने गीलेपन को। एक विशेष प्रक्रिया से दोनों पुनः अलग-अलग किये जा सकते हैं।

इसी प्रकार आत्मा और शरीर का संयोग है; दोनों न कभी एक हुए हैं और न कभी एक हो सकते हैं। परन्तु यह जीव अपनी अज्ञानता से निजस्वरूप से बेखबर स्वयं को शरीररूप ही देखता-जानता है, शरीर के नाश में अपना नाश और शरीर की उत्पत्ति में अपनी उत्पत्ति मानता है। निज की यह अज्ञानता ही इस जीव के बारम्बार जन्म धारण करने में कारण है।

तुम क्या हो?

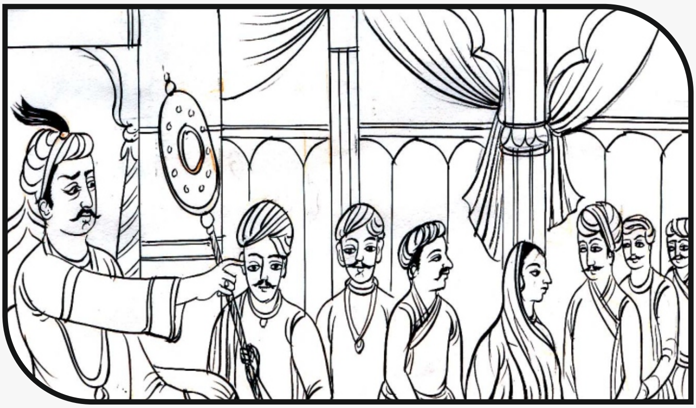

एक अंधा फकीर राजपथ पर खड़ा था और राजा की सवारी निकल रही थी। सबसे पहले चौकीदार आया, उसने बूढ़े को धक्का देकर कहा कि मार्ग से हट जा, दिखता नहीं कि राजा की सवारी आ रही है? बूढ़ा हँसा और बोला – 'मालूम होता है चौकीदार साहब हैं।'

फिर कुछ देर बाद कलेक्टर आया। उसने बूढ़े से कहा कि, 'राजा की सवारी आ रही है। आपको हट जाना चाहिए।'

बूढ़ा हँसा और बोला – 'कलेक्टर साहब मालूम होते हैं!'

कुछ देर बाद राजा के मंत्री आये और बूढ़े से कुछ कहे बिना ही बगल से अपने घोड़े को निकाल कर चले गये।

बूढ़े ने कहा कि 'मंत्री महोदय जा रहे हैं।'

इतने में राजा की सवारी आ गयी। बूढ़े को अंधा समझकर राजा नीचे उतरा और बूढ़े का हाथ पकड़ कर उसे किनारे खड़ा कर दिया।

बूढ़ा हँसा और बोला – 'राजा साहब आ गये हैं।'

अब हमारी बात है। हमारे पास क्या है ? इससे हमारी पहचान नहीं है। हमारी पहचान तो इससे है कि हम क्या हैं ? जैसे हम हैं वैसा ही सोचना, बोलना और करना हमें प्रगट करता है। हमारा स्वरूप जानना–देखना है, जो स्वयं के इस अकृत्रिम व्यवहार को देखता है, अनुभव करता है वह स्वयं को प्राप्त कर सकता है।

स्व-पर का भेदज्ञान

अपनी निधि तो अपने में है, बाह्य वस्तु में व्यर्थ प्रयास।
जग का सुख तो मृग-तृष्णा है, झूठे हैं उसके पुरुषार्थ।।

एक धोबी भूल से किसी दूसरे का कपड़ा किसी दूसरे को दे गया। उस दूसरे व्यक्ति ने भी उस कपड़े को अपना समझकर पहन लिया। दूसरे दिन धोबी आया और उसने कहा कि जो कपड़ा मैं कल आपको दे गया था वह आपका नहीं था। धोबी ने उस कपड़े के चिह्न को दिखाकर उस व्यक्ति को इसका विश्वास करा दिया। चिह्न को देखकर उस व्यक्ति ने जान लिया कि यह कपड़ा मेरा नहीं है। उस व्यक्ति ने बिना कुछ कहे वह कपड़ा धोबी को वापिस दे दिया। उस कपड़े को वापिस करने में किसी प्रकार का दुख भी नहीं हुआ। कपड़े को देने में थोड़ा विलम्ब भी हो जाये, क्योंकि पहना हुआ है साफ करके देना ही नैतिकता है।

अब अपनी बात है कि इसी प्रकार हमने भी इस शरीर को अपना मानकर पकड़ रखा है। आचार्य बार-बार समझाते हैं कि यह तेरा अपना नहीं है। इसके जड़त्व रूपी चिह्न को दिखाते हैं कि यह तेरे चिह्न वाला नहीं है; परन्तु यह बात तो सुनता है, लेकिन उस चिह्न को देखना और देखकर अपने चिह्न से मिलान करना ही नहीं चाहता है। कदाचित् कोई व्यक्ति इसकी पहचान करता है तब पहचान होते ही शरीर से अपनापना मिट जाता है, स्वामीत्व नहीं रहता। जैसे कपड़े को उतारकर देने में देरी हो सकती है परन्तु अपनापना जाने में देरी नहीं लगती। वैसे ही शरीर से अपनापना तो मिट जाता है, सम्बन्ध छूटने में कुछ समय लग सकता है। जब शरीर से दृष्टि हटाकर चेतन को अपने रूप अनुभव करे तो जन्म धारण करने का बीज ही नष्ट हो जाता है।

कुँए में बाल्टी!

किसी ने पानी भरने के लिए कुँए में बाल्टी डाली और उसे भरकर बाहर निकाला। बाल्टी गंदे पानी से भरकर आ गई। अब बताइये, गंदलापन किसने पैदा किया? क्या बाल्टी ने? नहीं, बाल्टी ने गंदलापन पैदा नहीं किया, उसने तो जो कुँए में था वही बाहर ला दिया। यदि कुँए में साफ पानी होता तो बाल्टी के माध्यम से साफ पानी बाहर आ जाता, गंदला पानी था तो गंदला ही बाहर आ गया। और यदि कुँए के भीतर कुछ भी न होता तो बाल्टी खाली ही बाहर आ जाती।

आप कहेंगे कि बाल्टी को गंदलापन पैदा करने वाली तो कोई भी नहीं मानता ? ठीक है, परन्तु हम अपने जीवन में तो ऐसा ही मानते हैं, दूसरे ने क्रोध करा दिया, उसने मन चला दिया इत्यादि।

मान लीजिये कि किसी के गाली देने पर हमने क्रोध किया। यदि हमारे भीतर क्रोध न होता तो गाली क्या करती? गाली ने तो मात्र बाल्टी का काम किया, जो हमारे अंतरंग में था वह बाहर आ गया। यदि हममें विकार न होता तो प्रतिक्रिया पैदा न होती। इसी प्रकार स्त्री ने राग करा दिया अथवा खोमचे वाले ने मन चला दिया, क्या ये बातें सही हैं? नहीं सच तो यह है कि मन हमने चलाया, गंदगी हममें थी, हम विकारी थे, स्त्री का अवलम्बन हमने किया, विकार-रूप परिणमन हमने किया और नाम लेते हैं स्त्री का। यह तो सरासर बेईमानी है।

जबतक हम यह मानते रहेंगे कि पर ने, दूसरे ने हम में विकार पैदा किया, तबतक हमारे विकार के मिटने की सम्भावना ही नहीं बन सकतीं। जब हम वस्तुस्थिति को सही रूप से समझेंगे कि मैंने पर का अवलम्बन किया, विकार किया, अपनी वजह से निज में विकार-रूप परिणमन किया है, यह गलती मेरी है। विकार मुझमें है, तभी हम स्वयं को ठीक करने की चेष्टा कर सकेंगे, अन्यथा नहीं। यदि हमारी मान्यता गलत ही बनी रही कि दूसरे की वजह से विकार हुआ है, तब तो हमारे विकार की उत्पत्ति भी और विनाश भी दूसरे के आधीन ठहरे, दूसरा दूर करे तो वह दूर हो, हमारे प्रयास से कैसे ठीक हो सकेगा? फलस्वरूप हम सदा विकारी ही बने रहेंगे।

अज्ञानता के विकल्प

दो दोस्त बैठे बातें कर रहे थे। एक ने एक खेत का नक्शा मिट्टी पर बनाया और कहा कि यह खेत मैं ले लेता हूँ और यह बगल वाला तू ले लेना। दूसरे ने भी मिट्टी के नक्शे पर निशान लगाया और कहा कि यह बात तो ठीक है, परन्तु मेरी भैंस तेरे खेत में इधर से आयेगी।

पहले ने कहा – मैं तेरी भैंस को इधर से नहीं आने दूँगा । दूसरे ने कहा कि मेरी भैंस तो इधर से ही आवेगी। पहले वाले ने ताव में आकर कहा कि अगर तेरी भैंस इधर से आवेगी तो मैं तेरी भैंस को मार दूँगा। दूसरे ने उसी मिट्टी के नक्शे पर उंगली रखकर कहा कि देख ! यह मेरी भैंस तेरे खेत में गयी। पहले ने उसके हाथ पर डण्डा मारकर कहा कि देख ! यह मैंने उसको मार दिया । इसप्रकार दोनों में लड़ाई हो गयी।

कोर्ट में केस गया। जज ने पूछा कि तुम दोनों क्यों लड़े? उन्होंने कहा कि यह मत पूछिये कि झगड़ा क्यों हुआ? आपको जो दण्ड देना है सो दे दीजिए ।

अब अपनी बात है । क्या यह दशा हमारी नहीं है। आगे की, पीछे की बातें सोचते रहते हैं और कषाय में पागल होते रहते हैं। वह सोचता है कि अगर उसने यह कहा तो मैं ऐसा करूँगा अथवा पीछे की सोचता है कि उस रोज उसने ऐसा कहा था, मैंने ऐसा जवाब दिया था।

इसप्रकार आप ही अपने में विकल्प उठाता है और आप ही दुखी होता रहता है । आपस में झगड़ा कर लेता है । जब पता लगता है कि इन सबका कारण क्या है तो मालूम होता है कि इसकी जड़ में हमारी अज्ञानता भरी हुई है।

उसका कार्य उसके आधार है और हमारा कार्य हमारे आधार है।

एक सुई अपने साथ ले जाना !

जन्मे-मरे अकेला चेतन, सुख-दुख का भोगी।
और किसी का क्या इक दिन यह देह जुदी होगी।।
कमला चलत न पैंड जाय, मरघट परिवारा।
अपने-अपने दुख को रोवे, पिता-पुत्र-दारा।।

– बारह भावना : कविवर मंगतरायजी

गुरु नानक लाहौर के एक गाँव में ठहरे हुए थे। एक आदमी प्रतिदिन उनके पास आता था और बार-बार कहता था कि मेरे लिए कोई सेवा बतायें। एक बार गुरु नानक ने उसे एक सुई दी और कहा कि तुम्हारे लिए यही सेवा है कि इस सुई को मृत्यु के बाद अपने साथ ले जाना। वह आदमी घबराया कि जब मृत्यु होगी तब यह सुई कैसे साथ जा सकती है! उसने वह सुई गुरु साहब को वापस दे दी और कहा कि मुझे क्षमा करें महाराज! मुझमें ऐसी सामर्थ्य नहीं कि सुई को मृत्यु के बाद ले जा सकूँ।

क्या यही प्रश्न हम अपने आपसे नहीं पूछ सकते कि मेरे पास क्या है ? जो मैं अपने साथ लेकर आया था और क्या है ? जो अपने साथ लेकर जा सकता हूँ। हम न साथ लेकर कुछ आये हैं, न साथ लेकर जा सकते हैं; तब मात्र कुछ समय के लिए इतनी मारा-मारी किस बात की है।

एक आत्मज्ञानी ही है जो यह जानता है कि मेरी मृत्यु नहीं है। सब चला जाएगा किन्तु मैं नहीं जा सकता। सब खोयेगा परन्तु मैं नहीं खो सकता। वह आत्मा खोया ही नहीं जा सकता।

जहाँ मैं हूँ वहीं तुम हो

एवमयं कर्मकृतैर्भावैरसमाहितोऽपि युक्त इव।
प्रतिभाति बालिशानां प्रतिभास: खलु भवबीजम्।।

इसप्रकार यह आत्मा कर्म द्वारा किये गये नाना प्रकार के भावों से संयुक्त नहीं होने पर भी अज्ञानी जीवों को उनसे संयुक्त जैसा प्रतिभासित होता है, उनका यह प्रतिभास ही निश्चय से संसार का बीज है। – पुरुषार्थ सिद्धि उपाय, श्लोक-14

दो मित्र बचपन में एक साथ पढ़ते थे। बड़े होने पर एक बादशाह बन गया और एक साधु हो गया। साधु ने सब कुछ छोड़ दिया और बादशाह ने अपने राज्य को बढ़ाया, उसकी विजय की कहानियाँ दूर-दूर तक फैल गयी।

बहुत दिनों के बाद उस पुराने मित्र साधु का बादशाह के नगर में आगमन हो रहा था। बादशाह ने सोचा कि हमारा मित्र आ रहा है, वह साधु बन गया है, उसने सब कुछ त्याग कर दिया है, अतः उसका स्वागत और सम्मान ऊँचे दर्जे का करना चाहिए। अतः उसने पूरे रास्ते में कालीनें बिछवाईं और अनेक स्वागत द्वार बनवाये। मुख्य स्वागत द्वार पर स्वागत करने के लिये स्वयं बादशाह अपने दरबारियों को लेकर खड़ा हुआ।

कुछ लोगों ने साधु को जाकर कहा कि बादशाह आपको अपना वैभव दिखाना चाहता है, ताकि आपको हतप्रभ कर सके। साधु ने जवाब में कहा कि हम भी दिखा देंगे कि हम क्या हैं?

जिस रोज नगर में प्रवेश हुआ, कहीं पर वर्षा नहीं हुई थी। परन्तु वह साधु घुटने तक कीचड़ से भरे पैरों को कालीनों पर रखता हुआ वहाँ पर आया।

बादशाह ने उसका स्वागत किया और पूछा –''मित्र ! यह कीचड़ कहाँ से लग गया ?''

साधु ने जवाब दिया –''तुम कालीन बिछवाकर अपना वैभव दिखाना चाहते हो तो हम भी उन पर कीचड़ के पैरों से चलकर अपना फकीरीपना दिखाते हैं।''

यह जवाब सुनकर बादशाह ने कहा कि ''मैं समझता था आप फकीर हैं, आपमें बहुत बड़ा बदलाव आ गया होगा, परन्तु लगता है जहाँ मैं हूँ वहीं आप हो। मैं पाकर उसका दम्भ पुष्ट करता हूँ आप त्याग कर उसी दम्भ को पुष्ट कर रहे हो।''

क्या यही कहानी हमारी नहीं है ?

ग्रहण का अहंकार तो कदाचित् त्याग से छूट जावे, परन्तु त्याग का अहंकार तो मरने पर भी साथ जाता है। जो-जो अहंकार-त्याग के साधन थे, हमने उन्हें अहंकार करने का साधन बना लिया। त्याग का, ज्ञान का अहंकार सबसे बड़ा अहंकार होता है।

ज्ञान और त्याग तो अहंकार के नाश के कारण थे। हमने तो दवाई का ही अजीर्ण कर लिया, तब बीमारी कैसे मिटे ?

पर तो पर था ही उसे क्या छोड़ना? छोड़ना तो पर का अहंकार था सो हमने उसे छोड़कर, छोड़ने का अहंकार रख लिया। हमें अपने में खोजना है कि कहीं इस अहंकार ने त्याग के पीछे अपने पैर तो नहीं जमा रखे हैं? हर एक आदमी यह अपेक्षा रखे हुए है कि लोग मुझे कहें या समझें कि मैं भी कुछ हूँ, ज्ञानी हूँ, धर्मात्मा हूँ। क्या यह अपेक्षा अहंकार नहीं है?

हमारा ज्ञान और त्याग आत्म-कल्याण का साधन न बनकर अहंकार करने का साधन बन गया। देखें! कहीं यह गलती हममें तो नहीं है ?

कर्म की अमानत

अक्षय है शाश्वत है आत्मा निर्मल ज्ञान स्वभावी है।
जो कुछ बाहर है सब पर है कर्माधीन विनाशी है।।
तन से जिसका ऐक्य नहीं है सुत तिय मित्रों से कैसे?
चर्म दूर होने पर तन से रोम समूह रहें कैसे।?
महाकष्ट पाता जो करता पर पदार्थ जड़ देह संयोग।
मोक्ष महल का पथ है सीधा जड़-चेतन का पूर्ण वियोग।।

-नीरव निर्झर से साभार

एक सेठजी के दो पुत्र थे, एक 17 वर्ष का और दूसरा 20 वर्ष का। अक्सर सेठजी अपने पुत्रों के साथ ही भोजन किया करते थे।

एक दिन अकस्मात् किसी दुर्घटना में उनके दोनों लड़कों की मृत्यु हो गई, लोग उन दोनों के शव लेकर घर आए। उस समय सेठजी घर पर नहीं थे। उनकी पत्नी ने वे लाशें एक कमरे में रखवालीं और उन पर चादरें ढक दीं। सेठजी जब भोजन के लिए घर आये तो इस घटना से बेखबर उन्होंने पूछा – 'आज पुत्र नहीं आये क्या?'

पत्नी बोली – 'आते ही होंगे, आप तो भोजन करलो।' सेठजी भोजन करने बैठ गये।

पत्नी बोली – ''आपसे एक बात पूछनी है। बरसों पहले एक आदमी मुझे दो रत्न दे गया था, आज वह अपने रत्न वापिस लेने आया था, उसको दे दूँ क्या?''

सेठजी बोले– ''क्या यह बात भी पूछने की है, दे क्यों नहीं दिये।'' कुछ देर बाद पत्नी ने फिर पूछा – ''क्या वे दोनों रत्न उसे दे दूँ? सेठजी बोले– ''ये बात बार-बार क्यों पूछ रही हो। दे ही देना चाहिए थे।'' भोजन के बाद सेठजी ने कहा कि ''पुत्र अभी तक नहीं आये?''

पत्नी ने कहा – ''आइए ! मैं बताती हूँ।'' और उनको उस

कमरे में ले गई जहाँ लाशें ढकी पड़ी थीं। पत्नी ने चादर हटाई और कहा कि वे दोनों रत्न वापिस कर दिये हैं। सेठजी एकबार तो हक्के-बक्के रह गये, फिर हँस पड़े और बोले कि जब दे ही दिये थे, तब मेरे से क्यों पूछ रही थी?

हमारा जीवन भी ऐसा ही है। हम भी परभव से आये हैं; आते समय कुछ साथ लाये नहीं, जायेंगे तब कुछ साथ लेकर जायेंगे नहीं। कर्म के उदय के अनुसार कुछ संयोग मिला है। कर्म ने अपनी चीज़ लाकर हमारे पास रखी है। जब वह जायेगा अपनी ले जायेगा। ***जो लाया वह भी उसी की है, हमारी नहीं है; जो ले जायेगा वह भी उसी की है, हमारी नहीं है। हमारा अपना तो मात्र एक निज चैतन्य है जो किसी का लाया हुआ नहीं है, कोई लेकर भी नहीं जा सकता।*** इसके अलावा सभी कर्म का है। कर्मकृत पदार्थों को अपना मानना -यही अज्ञानता है। जब कर्मकृत वस्तुओं को हम अपना मानते हैं तब उन पदार्थों में अहंकार पैदा होता है, कर्म ले जाता है तब रोते हैं। यदि हम कर्म के कार्य को कर्म का ही मानें तब न तो रोना पड़े और न अहंकार पैदा हो।

यह मत सोचो कि हमारा इतना चला गया। जो गया वह भी कर्म का है और जो शेष बचा वह भी कर्म का ही है। वह अपना सब कुछ ले जा सकता था। अगर कुछ छोड़ गया तो वह भी उसका ही है, उसे अपना मानना अज्ञान है, अपराध है, भ्रम है और उसका फल चार गतिरूप जेल है।

यह राग आग दहै सदा तातें समामृत सेइये।
चिर भजे विषय कषाय अब तो त्याग निज पद बेइये।।

-छहढ़ाला : कविवर पण्डित दौलतरामजी

हमारा मिथ्या अहम्

परमार्थ सुख तो मिलता ही है धरम से।
और व्यवहार सुख का सरोकार है करम से।।
परद्रव्य की नहीं है इसमें कोइ भागीदारी।
ये बात समझ में आई तो समझना समझदारी।।
तालाब में फूल खिलता है सूर्य के उगने पर।
पर कमल तो खिलता है स्वयं के डग भर।।

एक बार एक व्यक्ति ने पत्थरों के एक ढेर से एक पत्थर उठा लिया और उसे जोर से ऊपर फेंका। जाते-जाते उस पत्थर ने दूसरे पत्थरों से कहा- ''मैं अब अंतरिक्ष में जा रहा हूँ, कुछ समय बाद वहाँ की खबर लेकर आऊँगा। बीच में मुझे कोई नहीं रोकेगा। जो मुझसे टकराएगा, चूर-चूर हो जावेगा।''

वह पत्थर जाकर किसी के घर में लगी काँच की एक खिड़की से भिड़ा। काँच फूट गया। पत्थर ने कहा- ''मैंने पहले ही कहा था जो मेरे से भिड़ेगा वह चकनाचूर हो जायेगा।'' फिर वह कमरे के भीतर रखे सोफे पर जा गिरा और कहने लगा- ''मेरे स्वागत के लिये पहले से सोफा बिछा हुआ है'' गृहस्वामिनी ने जब उस पत्थर को देखा तो वह उसे उठाकर बाहर फेंकने के लिए आयी।

पत्थर ने कहा - ''गृहलक्ष्मी भी मेरा स्वागत करने के लिये आ रही है।'' घर की मालकिन ने पत्थर को खिड़की से वापिस फेंका तो पत्थर ने कहा - ''अब मैं वापिस अपने परिवार के पास जा रहा हूँ।'' और वह पत्थर अपने साथी पत्थरों के ढ़ेर पर जा गिरा।

अब अपनी बात है। क्या इसी तरह से हम अपना अहंकार

पुष्ट नहीं कर रहे हैं? कर्म के उदयानुसार संसार में संयोग-वियोग हो रहा है और हम मान रहे हैं कि मैंने कमाया, मैंने दूसरे का ऐसा कर दिया, मैं ऐसा हूँ, मैं ऐसा कर सकता हूँ, मेरे बिना कुछ नहीं हो सकता इत्यादि।

इसप्रकार यह जीव अपने अहंकार में पागल हो रहा है। कार्य कर्मानुसार होता है। जबरदस्ती ही यह उसका कर्ता बन रहा है।

सम्यक् मान्यता तो यह है कि कार्य कर्मानुसार होता है, मैं तो मात्र ज्ञान का मालिक हूँ, कर्म के कार्य का कर्ता नहीं हूँ, मात्र ज्ञाता हूँ। ऐसी मान्यता तभी सम्भव है जब इस जीव को अपने स्वभाव का ज्ञान हो। पर का कर्त्तापना, अहंपना ही संसार की जड़ है। ऐसे अपने आत्मस्वरूप को जाने तो वह जड़ कटे। लोक में भी कर्म के कार्य को कर्म का माने उसका कर्ता न बनें, मात्र ज्ञाता रहे तो समस्त आकुलता से रहित हो सकता है।

ज्ञानी-अज्ञानी में यही फर्क है; ***अज्ञानी पर का कर्ता बनकर अहंकार करता है, ज्ञानी ज्ञाता रहकर अकर्ता रहता है।***

केई उदास रहैं प्रभु कारन, केई कहैं उठि जांहि कहीं के।
केई प्रनाम करैं गढ़ि मूरति, केई पहार चढ़ैं चढ़ि छींके।
केई कहैं असमान के ऊपर, केई कहैं प्रभु हेठि जमीं के।
मेरो धनी नहीं दूर दिसन्तर, मोहि में है मोहि सूझत नीके।।

- समयसार नाटक ४८/२०४

आत्मा को जानने के लिए -

1. कुछ अज्ञानी तो उदास होकर बाबाजी बन जाते हैं।
2. कुछ अज्ञानी तीर्थों में चले जाते हैं।
3. कुछ अज्ञानी प्रतिमा स्थापित कर उसे पूजने लगते हैं।
4. कुछ अज्ञानी डोली आदि से पहाड़ों की यात्रा को चले जाते हैं।
5. कुछ लोग कहते हैं कि भगवान आसमान में हैं।
6. कुछ लोग कहते हैं कि भगवान जमीन में हैं।

पर ज्ञानी कहते हैं कि मेरा भगवान मेरे में है, वह मुझसे दूर नहीं है और मुझे भले प्रकार अनुभव में आ रहा है।

वह तो तू ही है! कहीं खोया नहीं है!

रे रुचिवंत पचारि1 कहैं गुरु, तू अपना पद बूझत2 नाहीं।
खोजु हिये निज चेतन लक्षन, है निज में निज गूझत3 नाहीं।
सुद्ध सुछंद सदा अति उज्ज्वल, माया के फंद अरूझत4 नाहीं।
तेरौ सरूप न दुंद5 की दोहीं6 में, तोहि में है तोहि सूझत नाहीं।।

– समयसार नाटक 47/204

एक गुरु के पास एक शिष्य शिक्षा प्राप्त करने गया और उसके आश्रम में रहने लगा। तीन महीने बाद गुरु ने शिष्य से पूछा – ''कुछ मिला?'' शिष्य ने अस्वीकृति में सिर हिला दिया।

गुरु ने प्यार से कहा – ''अभी और साधना करो।''

तीन महीने बाद फिर वही बात हुई, शिष्य ने बताया कि नहीं मिला। इस प्रकार चार बार हो चुका, बारह महीने बीत गये। गुरु फिर शिष्य से मिला और पूछा – 'मिला?' शिष्य ने आदर पूर्वक कहा–

'वह तो मिला ही हुआ था, गया कहाँ था।' – गुरु का चित्त हर्ष प्रसन्नता से नाच उठा।

वस्तुतः आत्मस्वभाव तो मिला हुआ ही है; वह तो कभी छूटा ही नहीं। आत्मा अनन्त काल से चेतन है और सदा चेतन ही रहेगा। वह तो वैसा ही है, मात्र उसको देखना है, श्रद्धा प्रतीति करनी है। *वह अपने आप में ही मौजूद है। परन्तु हम अपने आपको अपने में नहीं देखकर बाहर खोज रहे हैं, जहाँ वह नहीं है।* इसलिए आजतक नहीं मिला और यदि बहिरंग में खोजते रहेंगे तो मिलेगा भी नहीं; क्योंकि जहाँ उसे खोजा जा रहा है वहाँ वह है ही नहीं।

---

1. बुलाकर 2. पहिचानते 3. उलझना 4. छूटता नहीं 5. भ्रमजाल 6. दुविधा

अपना सो अपना, पराया सो पराया

भेदग्यान साबू भयो, समरस निर्मल नीर।
धोबी अन्तरात्मा, धोवै निज गुण चीर॥
– समयसार नाटक 9/127

एक सेठ का पुत्र बचपन में खो गया। बहुत खोज करने पर भी नहीं मिला। इस घटना के लगभग छह वर्ष बाद सेठजी ने एक लड़के को अपने यहाँ घर की सफाई करने, बर्तन मांजने के लिये रख लिया। जब वह लड़का काम करता तो सेठानी उस पर चिल्लाती ही रहती कि कामचोर है, खाता बहुत है। वह उसे खाने को भी पूरा नहीं देती थी।

कुछ दिनों बाद इत्तफाक से पता चला कि यह तो हमारा ही खोया हुआ लड़का है। सेठानी अब उसकी पूरी देख–रेख करती। अपने हाथ से खाना खिलाती; कहती, तूने तो अभी कुछ खाया ही नहीं है। कामकाज को हाथ नहीं लगाने देती।

सोचा कभी ? कल और आज में इतना फर्क कैसे पड़ गया ? क्योंकि कल तक वह पराया था, आज अपना है।

इसी प्रकार हमने भी अपने आत्मा को तो पराया समझ रखा है और शरीर को अपना समझ रखा है। हम उल्टी रीति चला रहे हैं। पराया होते हुए भी उसे अपना समझ कर उसकी परवाह करते हैं। इसके विपरीत जो आत्मा वास्तव में अपना है उसका अहित करके भी इस पराये का, जिसे भूल से अपना समझ रखा है, हित करने की चेष्टाओं में लगे रहते हैं। जब भेदविज्ञान के द्वारा सही समझ आती है तब हमारा व्यवहार और आचरण भी बदल जाता है।

जैसा व्यवहार अबतक शरीर के प्रति था वैसा तो आत्मा के प्रति हो जाता है और जैसा आत्मा के प्रति था वैसा शरीर के प्रति हो जाता है – ***यही भेदविज्ञान की महिमा है।***

असली नकली की पहचान

एक बड़ा जौहरी था उसका बहुत नाम था, परन्तु जीवन के अंतिम समय में उसके पास बिल्कुल पैसा नहीं रहा। जब वह मरने लगा तो नकली चार हीरे अपने पुत्र को देकर बोला – ''इन्हें संभालकर रखना, ये तेरे काम आयेंगे। इनसे बड़ा व्यापार करना।'' इतना कहकर जौहरी मर गया।

लड़का चारों हीरे लेकर अपने चाचा की दुकान पर गया और कहा, ''मुझे व्यापार करना है, मेरे पिता ये हीरे दे गये हैं।'' चाचा ने देखा और सोचा कि ये हीरे तो नकली हैं। अतः उसने कहा – ''ये हीरे तू अपनी माँ के पास रख आ और यहाँ दुकान पर बैठकर हीरे की परख करना सीख।''

लड़का चाचा की दुकान पर आने लगा। थोड़े ही दिन में असली–नकली की अच्छी पहचान समझ गया। तब एक दिन चाचा ने कहा– ''अब तू अपना काम अलग कर ले।'' वह अपनी माँ के पास गया और अपने पिता के दिये हुए हीरे माँगे। हीरों की डिबिया खोलते ही उसने पहचान लिया कि ये नकली हैं और इसके साथ ही उसका उन हीरों के मालिकपने का अहंकार भी खत्म हो गया।

अब अपनी बात है। एक आदमी ने नकली हीरे पहन रखे थे। उसे मालूम है कि यह नकली हैं। उस व्यक्ति को यह अहंकार नहीं हो सकता कि मैंने असली हीरे पहन रखे हैं, भले ही दूसरा यह समझे कि इसने असली हीरे पहन रखे हैं।

जब असली वस्तु सामने आती है तो नकली वस्तु स्वयं ही नकली दिखाई देने लगती है। उसी के साथ नकली वस्तु के स्वामित्व का अहंकार भी खत्म हो जाता है। यही बात शरीरादिक और धनादिक के प्रति है। जहाँ आत्मज्ञान होता है शरीरादिक और धनादिक का असली स्वरूप समझ में आ जाता है, वहाँ उसी के साथ उनमें जो अहंकार होता है वह भी खत्म हो जाता है।

पर में ''मैं'' को खोना!

ज्ञान किसे कहते हैं ?

1. जिससे तत्त्व का बोध हो।
2. मन का निरोध हो।
3. आत्मा शुद्ध हो।
4. राग से विरक्त हो।
5. मोक्ष में राग हो।
6. मैत्री को बढ़ाता हो अर्थात् द्वेष का अभाव हो।

मूलाचार गाथा–267 से साभार

एक राजा परमात्मा की खोज में निकला। वह किसी आश्रम में गया। वहाँ के आचार्य ने कहा–''जो तुम्हारे पास हो उसे छोड़ दो।'' उस राजा ने राज्य का त्याग कर दिया, सारी सम्पत्ति बाँट दी। उसके पास कुछ भी नहीं रहा। आचार्य ने उसे देखकर कहा कि जो तुम्हारा नहीं था, उसे तो तुम छोड़ आये परन्तु जो तुम्हारा था वही त्यागा जा सकता था, तुमने उसको नहीं छोड़ा।

राजा कुछ भी नहीं समझ सका। आचार्य ने राजा को आश्रम की सफाई करने का काम सौंपा। कुछ दिन बाद आश्रमवासियों ने आचार्य से प्रार्थना की कि राजा को इस कठोर कार्य से मुक्त कर दें। आचार्य ने कहा – ''पहले परीक्षा लेनी होगी।'' दूसरे दिन जब राजा कचरे की टोकरी सिर पर लेकर बाहर फेंकने को जा रहा था तो कोई व्यक्ति उससे टकरा गया। राजा ने उससे कहा कि तुम अंधे हो क्या ? आचार्य ने यह बात जानकर कहा कि अभी वह वही है। कुछ दिनों बाद फिर एक आदमी राजा से टकरा गया और कचरा नीचे गिर पड़ा।

राजा ने उसकी तरफ कड़ी नज़र से देखा और कचरा उठाकर चला गया। परन्तु जो कहना था वह आँखों से कह दिया। कुछ महीनों बाद फिर कोई व्यक्ति टकरा गया। कचरा बिखर गया, परन्तु ऐसा लगा कि जैसे कुछ हुआ ही नहीं! उस रोज आचार्य बोले कि अब इसका ''मैं'' मर गया। जिसको छोड़ना चाहिए था उसको अब छोड़ दिया है।

अब अपनी बात है। सम्पत्ति छोड़ना आसान है, परन्तु पर में ''मैं'' छोड़ना बहुत कठिन है। पर में ''मैं'' ही संसार है। जिसका पर में ''मैं'' मर गया, उसका संसार खत्म हो गया। पर में ''मैं'' मरने के बाद संसार में कोई रस नहीं रहता। लेकिन जो पर में ''मैं'' से भरे हैं वे परमात्मा को नहीं जान सकते। परमात्मा पहचानने की शर्त है पर में ''मैं'' को खोना। ईश्वर को खोजने कहीं बाहर नहीं जाना है। अपने अंदर में ही ''मैं'' को स्वीकार करना है; मात्र उसे देखना है, खोजना है। वह प्राप्त होता है स्वबोध से।

रागादिभाव / मोहादिभाव तीन प्रकार से आत्मा के नहीं हैं-

नास्ति से देखें तो -

1. आत्मा के लक्ष्य से नहीं होते।
2. आत्मा के स्वभाव में नहीं हैं।
3. आत्मा के अनन्त गुणों में से एक भी गुण राग रूप नहीं है।

अस्ति से देखें तो -

1. रागादि के लक्ष्य से पुद्‌गलकर्म ही बंधते हैं।
2. पुद्‌गलकर्म के उदय/लक्ष्य से रागादि होते हैं।
3. रागादि स्वयं जानते नहीं हैं, क्योंकि वे अचेतन हैं।

भगवान भीतर है

एक बार भगवान ने सोचा कि मैं ऐसी कौन–सी जगह जाऊँ, जहाँ मुझे यह मानव हैरान न करे; यह मानव मुझे मंदिर में, जंगल में, पहाड़ पर, हिमालय की चोटियों पर, कन्दराओं में सब जगह खोज लेता है और रात–दिन का भेद किये बिना ही हे भगवान! हे भगवान! चिल्लाता रहता है। यहाँ तक कि चन्द्रमा तक भी पहुँच गया। इसके लिए भगवान ने कई समझदार लोगों से सलाह ली। अंत में एक समझदार व्यक्ति ने कहा कि यह मानव आपको सब जगह खोज लेगा परन्तु आप यदि इसी के भीतर छिप जाएँ तो वह आपको अपने भीतर नहीं खोजेगा, इसलिए आपको नहीं पा सकेगा। यह बात भगवान को समझ में आ गयी और उस दिन से वह मानव के भीतर छिप गया। जहाँ उसे कोई नहीं खोजता।

यह कहानी सही हो या न हो, परन्तु यह बात सही है कि इस मानव ने भगवान को खोजने में आकाश–पाताल सभी एक कर दिया। मंदिरों, तीर्थों, जंगल, पहाड़ सभी जगह भटका; परन्तु वहाँ नहीं खोजा, जहाँ भगवान (आत्मा) विराजमान है। यही कारण है कि इतना काल होने पर भी, हजारों वर्ष तपस्या करने पर भी वह भगवान को नहीं खोज पाया। यदि अपने अंतरंग में झांकता तो पाता कि अपना चैतन्य प्रभु अपने में ही विराजमान है।

कहा भी है –

क्यों जाता गिरनार, क्यों जाता काशी,
तेरे ही घट में है घट–घट का वासी।

शरीर को मरते देख!

सिकंदर जब भारत से लौट रहा था तो वह कोई अद्भुत चीज़ यूनान ले जाना चाहता था। किसी ने बताया कि हिमालय की तराई में एक महान् साधु बड़ा अद्भुत है। परन्तु उसे ले जाना असम्भव है; क्योंकि वह किसी की आज्ञा मानने वाला नहीं है। अपने मन का मालिक है।

सिकंदर नहीं माना। बोला– ''मेरी तलवार कब काम आएगी'' हलांकि लोगों ने कहा कि जो तलवार के भय से चला जाये वह साधु नहीं है। उसको साथ ले जाना बेकार है, तो भी सिकंदर ने अपने सेनापति को उस साधु के पास भेजा। सेनापति ने साधु को सिकंदर की आज्ञा बताई।

साधु ने कहा –''हम किसी के आधीन नहीं हैं, हम तो केवल अपनी आज्ञा मानते हैं।''

सिकंदर खुद आ गया नंगी तलवार लेकर और बोला कि आपको हमारे साथ चलना है अन्यथा हम आपको समाप्त कर देंगे।

साधु ने कहा – ''जिसे तुम समाप्त करोगे, हम उसे समाप्त होते देखेंगे, जिसप्रकार तुम इस शरीर को कटता देखोगे, उसी प्रकार हम भी देखेंगे; क्योंकि तुम जिसे काटोगे वह मैं नहीं हूँ, मैं उससे अलग हूँ। जिस शरीर को तुम साधु समझ रहे हो वह मैं नहीं हूँ और, जो मैं हूँ उसका मरण हो ही नहीं सकता, उसको कोई काट ही नहीं सकता।''

सारे दुःखों का मूल कारण है शरीर में अपनापना। राग–द्वेष की उत्पत्ति का कारण है शरीर में अपनापना। जितना शरीर को अपने रूप में देखोगे, उतना राग–द्वेष–मोह बढ़ेगा। जितना हम स्वयं को शरीर से अलग देखेंगे, मोह पिघलने लगेगा।

दुःख का कारण राग-द्वेष है और राग-द्वेष का कारण शरीर को अपने रूप में देखना है।

अपने को पहचाने बिना शरीर से अपनापन नहीं मिट सकता। शरीर से अपनापना मिटे बिना राग-द्वेष का अभाव नहीं हो सकता। राग-द्वेष के अभाव बिना जीव सुखी नहीं हो सकता।

चाहे दूसरे लाखों उपाय कर लिए जायें परन्तु यदि शरीर में अपनापना न मिटे तो दुःख नहीं मिटता। जिसके द्वारा शरीर और आत्मा में एकपने की-एकत्व की पुष्टि होती है, वे सही उपाय नहीं है।

एक ही मंत्र है – मैं शरीर नहीं ! शरीर से अलग हूँ; इसी भावना को दृढ़ करना है।

शरीर को अलग जानने का मार्ग ही तपस्या है। हर समय दुःख में, सुख में, पीड़ा में, नींद में, यह जानो कि मैं शरीर नहीं हूँ। भोजन करते, उपवास करते, कपड़ा पहनते, नग्न रहते, पूजा-दर्शन-स्तुति करते यह देखो कि मैं शरीर नहीं हूँ। जब रास्ता चलें तो पता चले कि शरीर चलता है, मैं तो केवल जान रहा हूँ। शरीर पर चोट हो तो समझ में आए कि शरीर पर चोट हुई है, मैं तो जानने वाला हूँ। तब यह अपना स्वामी आप हो जाता है। यही स्वाध्याय का फल है।

मैं शरीर हूँ, जो क्रिया इस भ्रम को तोड़े वही धर्म क्रिया है। जो क्रिया इस भ्रम को पैदा करे कि मैं शरीर हूँ वही पापक्रिया है।

निरंतर यह देखना है कि कोई भी क्रिया, कोई भी सोच-विचार इस अज्ञान को घना तो नहीं कर रही है, अन्यथा संसार बढ़ जाएगा। शरीर आत्मा को एक देखना अज्ञान है, भ्रम है और दो देखना ही विवेक है, सम्यक् ज्ञान है। क्षणभर को भी यह भाव न आ जाए कि मैं शरीर हूँ; क्योंकि यही महापाप है।

अपनी मृत्यु हर समय देखें

एकनाथ नामक एक साधु थे। किसी ने उनसे पूछा कि क्या आपके भीतर वासना पैदा नहीं होती, विचार नहीं उठते, पशुता आपके भीतर गति नहीं करती?

एकनाथ ने कहा कि इसका उत्तर मौका पड़ने पर दूँगा। कुछ दिन बाद एकनाथ ने उस व्यक्ति से कहा –''तुम्हारी हस्त रेखा बता रही है कि तुम्हारी आयु मात्र एक सप्ताह की है; जो कुछ तुम्हें करना हो सो कर लो।'' वह व्यक्ति उसी रोज से बिस्तर पर पड़ गया। खाना–पीना सब कुछ छूट गया। एक–एक मिनट गिनने लगा; एक–एक क्षण बीतना कठिन हो गया। सारी वासनाएँ, सारे विचार खत्म हो गए। उनकी जगह केवल मृत्यु दिखाई देने लगी। सातवां दिन आया तो एकनाथ उसके पास गए। देखा सब रो रहे हैं।

एकनाथ ने पूछा कोई इच्छा या वासना है?

उसने कहा कि मैं तो मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहा हूँ।

एकनाथ ने कहा कि यही हालत मेरी है। तुम्हारे प्रश्न का उत्तर देने के लिए तुमको यह मृत्यु की बात कही थी। असल में तुम्हारी मृत्यु अभी नहीं है। मैं भी निरन्तर मृत्यु देखता हूँ इसीलिए मुझमें कोई वासना और विचार पैदा नहीं होता।

हम भी दूसरों को मरते देखकर यह कहते हैं कि बेचारा इतनी जल्दी मर गया, परन्तु हमें अपनी मृत्यु दिखाई नहीं देती; अगर अपनी मृत्यु दिखाई देने लगे तो विचार और वासना उठनी ही बन्द हो जाये।

यह पर्याय दृष्टि से विचार था, अब द्रव्य दृष्टि से विचार करें। जब अपना स्वरूप परिपूर्ण अचलित चैतन्य स्वभाव भासित होता है, तब अन्य कुछ करने की जरूरत ही नहीं रहती।

वाद-विवादों में अनुभव नहीं

वस्तु विचारत ध्यावतें मन पावैं विश्राम।
रसस्वादत सुख ऊपजै अनुभव याकौ नाम।।
अनुभव चिंता मणि रतन अनुभव है रस कूप।
अनुभव मारग मोक्ष को अनुभव मोक्ष स्वरूप।।

एक समुद्र के किनारे कुछ पंडित लोग बैठे थे और उस समुद्र की गहराई के बारे में चर्चा कर रहे थे। कोई कितनी बता रहा था, कोई कितनी बता रहा था। साथ में तर्क और हेतु भी दे रहे थे। समाधान नहीं हो पा रहा था। इतने में दो नमक के पुतले आये और उन्होंने कहा कि किनारे बैठकर चर्चा करने से गहराई का पता नहीं चल सकता। अगर गहराई का पता लगाना है तो हमारे साथ आओ। ऐसा कहकर वे पानी में कूद पड़े और पानी के साथ घुलकर एकमेक हो गये, क्योंकि नमक के थे।

अब हमारी अपनी बात है। हम लोग शास्त्र पढ़ते हैं और चर्चा करते रहते हैं। चर्चा करने को ही हम अपनी विद्वता समझते हैं। कोई एक विरला ही व्यक्ति होता है जो वस्तु तत्त्व का स्वाद लेता है। चर्चा करने से स्वाद नहीं आता। स्वाद तो उसी को आता है जो वस्तु के साथ एकमेक हो जाता है और वस्तु स्वरूप का अनुभव करता है।

चर्चा करने वाले लाखों हैं। स्वरूप का अनुभव करने वाले कोई एक आध है। आम के गुणगान करने से आम का स्वाद नहीं आता। परन्तु आम के खाने वाले को आम का स्वाद आता है। चर्चा से व्यक्ति जानकार हो सकता है परन्तु अनुभव से उसका जीवन परिवर्तन हो जाता है।

आत्मस्वभाव मूल : आचरण उसका प्रतिफल !

एक बार एक व्यक्ति की बूढ़ी माँ बीमार पड़ी। उसके एक बगीचा था, जिसकी वह देखरेख किया करती थी। वह बहुत सुन्दर था। वह बड़ी चिन्तित थी; अपने लिये नहीं, परन्तु अपने बगीचे के लिये। उस व्यक्ति ने अपनी माँ से कहा कि तुम्हारे बगीचे की देखरेख मैं अच्छी तरह कर दिया करूँगा। तुम बेफिक्र रहो।

दूसरे दिन से वह एक-एक पत्ते की मिट्टी झाड़ने लगा, एक-एक फूल को कपड़े से पोंछने लगा; परन्तु पेड़ और पौधे मुरझाने लगे। पंद्रह दिन में उसकी माँ की सारी बगिया उजड़ गयी। पंद्रह दिन बाद उसकी माँ बीमारी से ठीक होकर आई। उसने अपने लड़के से पूछा कि यह क्या हुआ?

उसने कहा, "मैंने तो एक-एक फूल पर पानी छिड़का, एक-एक पौधे को गले लगाकर प्रेम किया; परन्तु फिर भी सब सूख गये।"

उसकी माँ हँसने लगी और कहा कि "फूल-पत्तों के प्राण उनकी जड़ में होते हैं जो दिखायी नहीं पड़तीं। पानी फूल-पत्तों को नहीं देना पड़ता, जड़ों को देना पड़ता है। फिक्र फूल-पत्तों की नहीं, जड़ों की करनी पड़ती है।"

यही बात हमारी है। हम लोग आचरण पर तो जोर देते हैं, परन्तु उसकी जड़ की कोई खबर नहीं है। आचरण तो प्रतिफल है। यदि जड़ को पानी मिलेगा, जड़ की संभाल की जायेगी तो फल-फूल-पत्ते तो अपने-आप ही आवेंगे और वे सही रूप में रहेंगे। परन्तु जड़ की संभाल नहीं रखी तो फल-फूल-पत्ते की संभाल करते-करते भी मुरझा जायेंगे।

अपना चैतन्य स्वभाव है वह तो जड़ है, मूल है उसको संभालें तो आचरण तो फूल-पत्तों की तरह अपने आप आ जायेगा। अतः निरन्तर आत्मस्वभाव को प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिए।

घर में वैरागी

> चिन्मूरति दृग धारिन की मोहि रीति लगत है अटापटी
> बाहर नारक कृत दुख भोगे, अन्तर सुखरस गटागटी।
> रमत अनेक सुरनि संग पै तिस परिणति तैं नित हटाहटी।
> संयम धारि सकै पै संयम धारन की उर चटाचटी।

एक बार एक सत्य से अनभिज्ञ व्यक्ति ने चक्रवर्ती सम्राट भरत महाराज से पूछा–''महाराज! लोग आपको घर में ही वैरागी कहते हैं, यह हमारी समझ में नहीं आता; क्योंकि आपके पास इतना वैभव, इतनी स्त्रियाँ और इतनी धन–सम्पत्ति है। इसके रहते हुए आप घर में वैरागी कैसे रह सकते हैं?'' भरत महाराज ने कहा–''कुछ दिन बाद आपके प्रश्न का उत्तर देंगे।''

कुछ समय बाद एक दिन भरत महाराज ने उस व्यक्ति को बुलवाया। उसके हाथ में तेल से लबालब भरा एक कटोरा दिया। दो सिपाहियों को नंगी तलवार लेकर उसके साथ जाने का हुक्म दिया और कहा कि इनको हमारे पूरे रनिवास में घुमाकर लाओ, किन्तु अगर इस कटोरे से एक बूंद भी तेल गिर जाये तो इनका सिर धड़ से अलग कर दिया जाये। उस व्यक्ति को समूचे रनिवास और वैभव में घुमाकर लाया गया।

भरत महाराज ने उससे पूछा–''आपने क्या देखा?'' सेठजी ने कहा–''महाराज ! इस तेल के सिवाय मेरे को कुछ भी दिखाई नहीं दिया।'' भरत महाराज ने कहा–''आपके प्रश्न का यही उत्तर है। भाई यही हालत मेरी है।

मेरे को समूचे वैभव में रहते हुए भी मेरे चैतन्य के सिवाय कुछ नहीं दिखाई देता।''

अब अपनी बात है। मंदिर जी में जाते हैं तो वहाँ भगवान की जगह वैभव दिखाई देता है। घर में जो वैभव में है, वह तो है ही, इसके अलावा जो वैभव अभी प्राप्त नहीं हुआ है और प्राप्त करने की अभिलाषा है, वह भी कल्पना के बल पर तैयार करके हम उसी में लगे हुए हैं।

जैसे धाय द्वारा दूसरे के बच्चे का पालन करते हुए भी उसका उसमें अपनापन नहीं है।

जैसे मुनीम द्वारा मालिक का काम करते हुए भी मालिक के लाभ-हानि में अपनापन नहीं है।

धर्मशाला में ठहरते हुए और उस कमरे को अपना कहते हुए भी उसमें अपनापन नहीं है।

ऐसी ही स्थिति हमारी भी धन-वैभव के बीच में भी बन सकती है, अगर हम भी शरीर से भिन्न अपने आत्म स्वभाव का ज्ञान कर लें। इसकी दवा आत्म-दर्शन ही है। तब संसार में रहते हुए भी संसार हमारे में नहीं होगा।

नाव पानी में होगी परन्तु पानी नाव में नहीं होगा। घर में रहते हुए भी घर हमारा नहीं होगा। देह में रहते हुए भी हम विदेही रहेंगे।

आयु गले मन न गले न गले आशा जीव की।
मो स्फुरे हित न स्फुरे यह दुर्गति इस जीव की।।४९।।
ज्यों मन रमें विषयानि में यदि आत्मा में त्यौं रमे।
योगी कहैं हे योगिजन तो शीघ्र जावे मोक्ष में।।५०।।

- योगसार

वह अपने लिये गाता है
मैं आपके लिए गाता हूँ

भगवान वीतरागी हैं, अत: गिड़गिड़ाना नहीं।
भगवान सर्वज्ञ हैं, अत: कुछ छिपाना नहीं।
भगवान हितोपदेशी हैं, अत: दुखी होना नहीं।

एक बार अकबर बादशाह ने तानसेन से उसका गाना सुनकर पूछा कि ''तानसेन! क्या इससे भी अच्छा और कोई गा सकता है?''

तानसेन –''जी महाराज! मेरे गुरु हैं, जो इससे भी अच्छा गा सकते हैं।''

अकबर ने कहा –''मैं तुम्हारे गुरु के दर्शन को चलूँगा।'' और अकबर बादशाह तानसेन के साथ उसके गुरु की झोंपड़ी में पहुँच गये। सबेरे का समय था। तानसेन के गुरु भगवान का भजन गा रहे थे। बादशाह सुनकर बेहोश हो गये। तानसेन बादशाह को सजग करके लेकर आये। बादशाह ने पूछा –''तानसेन ! क्या तुम ऐसा नहीं गा सकते?'' तानसेन ने कहा–'नहीं हुजूर !'

बादशाह ने पूछा –''क्यों ?'' तानसेन ने बताया –''मैं आपके लिये गाता हूँ और मेरे गुरू अपने लिये गाते हैं।''

अब हमारी अपनी बात है। अगर भगवान की भक्ति भोगों के लिये, पुण्यबंध के लिये या मान–बढ़ाई के लिये की जाए तो वह सच्ची भक्ति नहीं होती। वह तो मजदूरी के लिये किये हुए काम की तरह होगी ; क्योंकि उसके बदले में हमें कुछ चाहिए। परन्तु जो भक्ति उन जैसा बनने के लिये उनके गुणों में अनुरागपूर्वक होती है वह सच्ची भक्ति है। जहाँ बदले में कुछ चाह नहीं है, वह निष्काम भक्ति है। जहाँ देने–लेने की बात है वह भक्ति नहीं है, व्यापार है।

चारुदत्त चरित्र पर आधारित

जो पारिवारिक, सामाजिक, नैतिक, धार्मिक, व्यावहारिक जीवन के महत्त्वपूर्ण तथ्यों को उजागर करने के साथ-साथ हमें दिशा निर्देश करने हेतु मील का पत्थर सिद्ध होते हैं। ऐसा चारुदत्त चरित्र पर आधारित श्रीमती रूपवती 'किरण' द्वारा लिखित वसंततिलका नाटक, जो ९६ पृष्ठों में जैनकथा संग्रह भाग-२ में प्रकाशित है और मूलत: पठनीय है। तथापि संक्षिप्त कहानी के साथ हम उसके मार्मिक स्थलों को उजागर करने हेतु कुछ घटनायें यहाँ प्रथक् से प्रकाशित कर रहे हैं।

संक्षिप्त कहानी – चम्पापुर नगरी में जगत से उदास नित्य शास्त्र अभ्यास में ही मग्न एक चारुदत्त नामक युवक जब युवावस्था को प्राप्त होता है, तब माता-पिता के आग्रह से शादी तो कर लेता है, पर पत्नि से विरक्त ही रहता है। पश्चात् उसके चाचा उसे गृहस्थकला में पारंगत करने हेतु धोके से गणिका के यहाँ ले जाकर छोड़ आता है, जहाँ वह अत्यंत अरुचिपूर्वक एक रात्रि व्यतीत करता है, उसकी इस अरुचि से गणिकापुत्री वसंततिलका प्रभावित हो जाती है और चाचा के वापस न आने के कारण तथा एक रात्रि बिताने के कारण वह भी हीनभावना से ग्रसित होकर वहीं रह जाता है। धीरे-धीरे १२ वर्ष बीत जाते हैं, उसके घर की सम्पत्ति नष्ट हो जाती है, पिता विरक्त होकर मुनिदीक्षा ले लेते हैं। जब घर से धन आना बंद हो जाता है तब गणिका भी उसे छल से बाहर निकाल देती है। गणिकापुत्री वसंततिलका भी छद्मवेष में वैश्यालय छोड़ कर चारुदत्त के घर आ जाती है, वहाँ चारुदत्त तो नहीं मिलते, लेकिन उनकी माँ और पत्नि उसकी परीक्षा कर उसे अपने घर में रख लेती हैं। १२ वर्ष बाद जब चारुदत्त विदेश से वापस आते हैं तो समाज में अराजकता न हो और दोनों के प्रति अन्याय न हो, अत: सभी दिगम्बरी दीक्षा लेकर संयम के मार्ग में लग जाते हैं।

①

कीचड़ में कमल खिला

चारुदत्त अपने चाचा रुद्रदत्त द्वारा छल से जब वैश्या के जाल में फस जाता है और वैश्या पुत्री वसंततिलका के पास ही रह जाता है और वसंततिलका को उसके निमित्त से तत्त्वाभ्यास करते-करते तत्त्वरुचि हो जाती है, तब वसंततिलका और चारुदत्त के बीच हुई तात्त्विक चर्चा के महत्त्वपूर्ण मननीय अंश पढ़िये।

चारुदत्त : अपने मुँह से भला कौन सज्जन अपनी प्रशंसा करता है? सच बताओ देवी ! क्या तुम्हें वैभव सुहावना नहीं लगता है?

वसंततिलका : यों तो प्रत्येक प्राणी सुख का आकांक्षी है। मेरे अंतर में भी सुख-लालसा की अगणित जिह्वायें लपलपा रही हैं। उनके आक्रमण से ही संत्रस्त हो, मैं इस विलासी प्रवृत्ति को अपनाये हुये हूँ।

शारीरिक तुष्टि के अर्थ पौष्टिक सुस्वादु मधुर व्यंजन, ऐच्छिक मृदुल परिधान, रत्नजड़ित आभूषण एवं सेवा में दास-दासियों के अतिरिक्त संचित निधि का उपयोग क्या है? शेष निधि केवल भण्डारगृह की शोभा ही बढ़ाती है। **दूसरे शब्दों में यह भी कह सकते हैं कि वह कंकड़ों के ढ़ेर की तरह किसी काम न आने वाली तुच्छ वस्तु है।**

चारुदत्त : तुच्छ वस्तु नहीं है देवी !

वसंततिलका : (किंचित् आवेशपूर्वक) और क्या है? जो वस्तु **किन्हीं अभावग्रस्त मनुष्यों के उपयोग में न आकर निरुपयोगी हो केवल भण्डारगृह की शोभा बढ़ाये, वह नगण्य नहीं तो और क्या है?**

चारुदत्त : जिसे तुम नगण्य कह रही हो; उसी निधि के सद्भाव में व्यक्ति समाज में अग्रणी बन जाता है। संसार की सभी छोटी-बड़ी

समस्यायें इसी से हल होती हैं। निर्धन व्यक्ति का जीवन विषमता में ही संघर्ष करते हुये व्यतीत होता है, वह सुख चैन जानता ही नहीं।

वसंततिलका : फिर भी संतोष में जो अकथनीय आनन्द आता है, वह भोगों की तृष्णा में नहीं। **लक्ष्मी से कहीं अधिक सरस्वती के गुण गाये जाते हैं। विद्या ही अमूल्य निधि है, सम्पत्ति पुण्य की चेरी है। पुण्य क्षीण हुआ और वह अनजाने में ही चल देती है।** मनुष्य करुण विलाप करता रह जाता है। लक्ष्मी रहती है तो मनुष्य भोग-उपभोग की सामग्री जुटाने व भोगने में व्यस्त रहता है यदि किसी कारणवश मनचाहा उपभोग न कर सका तो तृष्णा के कारण विकल रहता है अर्थात् **पाप से अनुबंध कराने वाली संपत्ति प्रत्येक अवस्था में दुःखप्रद ही होती है।** काश ! अपनी संपत्ति भी कभी चल दे तो?

②

कर्त्तव्य और धर्म

जब चारुदत्त के पिता भानुदत्त अपने गृह त्यागने का निर्णय अपनी पत्नि देवलदेवी एवं पुत्रवधु मित्रवती को बताते हैं तब उनके साथ हुई तथ्यात्मक चर्चा के महत्त्वपूर्ण अंश पढ़िये।

भानुदत्त : मैं पलायनवादी नहीं हूँ देवलदेवी ! अभी तक इसी आशा में पड़ा रहा कि चारू को घर सौंपकर गृहत्याग करूँगा। पर ठीक दस वर्ष से उस उत्तराधिकारी की राह देखते-देखते आँखें थक गईं। वृद्धावस्था का आक्रमण प्रारम्भ हो चुका है। कभी न समाप्त होने वाले विकल्पों के चक्र में फँसे रहने पर आत्म कल्याण के द्वार सदा के लिए अवरुद्ध हो जायेंगे।

देवलदेवी : (रुद्धकंठ से) पुत्र जिस दिन से गया, लौटकर न

आया। आप भी उस पथ पर चले जाना चाहते हैं; जहाँ घर कुटुम्ब की सुधि भी बिसरा दी जाती है। जायें, आप भी जायें। समझ लूँगी मेरा कोई भी नहीं है।

भानुदत्त : (स्नेहपूर्वक समझाते हुए) देवी ! तुम्हें व्यथित कर नहीं जाना चाहता। जब तक तुम प्रसन्नतापूर्वक न कहोगी; तब तक आगे नहीं बढ़ूँगा। सच्चे हृदय से विचार करो कि संसार में सुख है कहाँ? क्या हम मिथ्या मृग मरीचिका में नहीं भटक रहे? क्या ये अतृप्त आकांक्षायें कभी पूर्ण हुई हैं?

देवलदेवी : रक्षक के अभाव में हमारी सुरक्षा किस प्रकार होगी?

भानुदत्त : इस नाशवान संसार में कौन किसका रक्षक है? आज तुम मुझे दीक्षा नहीं लेने देती। काश! मैं मर जाऊँ तब कौन रक्षा करेगा? सत्य यही है कि प्राणी के सत्कर्म ही उसकी रक्षा करते आये हैं।

मित्रवती : यही सत्य है, परन्तु आप अपने लिये ऐसे कटु वचनों का प्रयोग न करें।

भानुदत्त : यह असम्भव नहीं है पुत्री ! ममत्व हमें तथ्य तक पहुँचने नहीं देता।

मित्रवती : एक बार मैं पुनः आपसे आग्रह करूँगी कि विचार परिवर्तन कर चंद दिन और पुत्र की राह देख लें तो शुभ हो।

भानुदत्त : पुत्री ! मैं पुत्र की राह देखूँ और मृत्यु मेरी राह देख रही हो तो आत्मकल्याण किस प्रकार सम्भव हो सकेगा?

मित्रवती : गृह में रहकर भी विरागता का अभ्यास किया जा सकता है तात !

भानुदत्त : हाँ अभ्यास किया जा सकता है, किन्तु पूर्णता श्रमण

अवस्था में ही होती है। अतः तुम अपनी माताजी को समझाओ; ताकि तुम दोनों की सहर्ष स्वीकृति से मैं कल्याणकारी मार्ग पर अग्रसर हो सकूँ।

देवलदेवी : समझाने की आवश्यकता नहीं रही गुरुवर। जब आप निर्णय कर चुके; तब मैं क्यों मुक्ति के पथ की बाधा बनूँ। श्री प्रभु से मंगल कामना करूँगी कि आपकी चेतन ज्योति निरन्तर उज्जवल-उज्जवलतर होकर जाज्वल्यमान हो।

मित्रवती : तात् ! मैं सोच रही हूँ कि आपके जीवन के ये कितने महान मंगलमय क्षण हैं कि शरीर से ममता का अभाव हो गया और मैं कितनी मोही हो रही हूँ कि प्रतिक्षण वियोग की ज्वाला में जलकर भी मेरी आंतरिक निवृत्ति न हो पाई। मैं यदि इस कीच में फँसी हूँ तो आपको भी क्यों लिप्त रखूँ। अच्छा हो आप अहर्निश अविरत अबाध गति से सहज आनन्द का उपभोग करें। **– जै.क.संग्रह भाग २ से साभार**

③

आपदा में निरापद मार्ग

जब १२ वर्ष बाद विदेशयात्रा से श्रेष्ठी चारुदत्त के अपने नगर चम्पापुर वापस आने के समाचार उनके परिवार को मिलते हैं, तब वसंततिलका दासी कक्ष में जाकर बैठ जाती है। मित्रवती भी उसे खोजती हुई दासी कक्ष में पहुँच जाती है तब उनकी जो चर्चा होती है, उसके कुछ प्रमुख अंश इसप्रकार हैं –

वसंततिलका : जीजी ! तुममें और मुझमें धरती आकाश का अंतर है। आर्यश्रेष्ठी से तुम्हारा गठबंधन धार्मिक संस्कारों सहित सामाजिक मान्यता प्राप्त है। जबकि मेरा प्रेम अनुचित है।

मित्रवती : धार्मिक संस्कार न सही, न सही सामाजिक मान्यता। पर उन्होंने तुम्हें अपनाया तुमने प्रभु की साक्षी ले अपना कौमार्य उन्हें सौंपा। तुमने सत्कर्त्तव्य का निर्वाह कर आजीवन उन्हें ही पति माना, अब तुम्हीं बताओ ! अधार्मिकता कहाँ रही ? यह न्याय है। नीति की भित्ती पर ही हम आधारित नहीं रह सकते। न्याय की नींव डालनी ही होगी।

वसंततिलका : तुम भूल रही हो जीजी ! हम सामाजिक प्राणी हैं सामाजिक रूढ़ियाँ हमें माननी ही होंगी। लोकव्यवहार पर चलना हमारा कर्त्तव्य है।

मित्रवती : (सरोष) लोक व्यवहार क्या नारियों के लिये ही है ? पुरुष अपराध कर निर्दोष कहलाये और नारी निरपराधिनी रहकर भी मस्तक न उठा सके। श्रेष्ठीपुत्र अपराध से अछूते नहीं रह सकते। (गर्वपूर्वक) ये कैसा न्याय ? मैं इन रूढ़ियों के बंधनों से उन्मुक्त रहना चाहती हूँ। नारी सदैव पद दलित हो, त्रास पाये एवं पुरुष गर्वोन्नत रहकर समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करे असंभव ..... असंभव। यह अन्याय है। अन्याय का प्रतिकार होना नितांत आवश्यक है।

वसंततिलका : जीजी ! तुम अपनी भगिनी के प्रति उत्कृष्ट स्नेहाभिभूत हो लोक व्यवहार भूल बैठी हो।

मित्रवती : मैंने कहा न सखी ! ये मिथ्या लोक व्यवहार मुझे तनिक भी मान्य नहीं। लोक निर्मम हैं। सत्य से कोसों दूर है। यहाँ सत्य की अर्थी जलती है।

वसंततलिका : तो बताओ, हम तुम सभी उसकी लपटों में झुलसने से बच सकेंगे ?

मित्रवती : हाँ, बचने का उपक्रम अवश्य करेंगे। न भी बचें पर एक न एक दिन हम कुंदन बन लोगों को आश्चर्यचकित तो कर सकते हैं। व्यक्ति अपनी भावनाओं से ही बनता बिगड़ता है।

वसंततिलका : जीजी ! समाज के विरुद्ध होकर लोहा लेना कहाँ की बुद्धिमानी है ?

मित्रवती : तो क्या थोथे भय से भीत होकर अपने अमूल्य मानव जीवन को साधारण कीट पतंग की भाँति नष्टप्राय कर देना चाहती है?

④

अपराध भी क्या है इसका?

पश्चात् दोनों को खोजती हुई देवलदेवी भी वहीं पहुँच जाती हैं उनके बीच हुई चर्चा भी पठनीय मननीय जानकर उसका संक्षेप यहाँ दे रहे हैं।

देवलदेवी : (बीच ही में) अरी ! ये लोकलाज कौन बला है ? तुमने अभी दुनिया देखी ही कहाँ है, क्या जानो इसकी रीति-नीति। चमत्कार को नमस्कार करती है दुनिया। किसके मुँह में दाँत हैं जो विरुद्ध में एक वचन भी निकाले।

वसंततिलका : भय के कारण यदि कोई कुछ न कहे तो उससे सम्मान नहीं बढ़ सकता मातुश्री !

देवलदेवी : अच्छा, तू ही बता, यदि लोग अज्ञानतावश स्वर्ण को पीतल कहें तो क्या बुद्धिमान उसे फेंक देंगे ?

मित्रवती : यही तो मैं भी कह रही हूँ मातुश्री ! विरहाग्नि में इसे जानबूझकर जलती हुई कैसे छोड़ दूँ ? अपराध भी क्या है इसका?

देवलदेवी : मित्रवती यथार्थ कह रही है तिलका ! मेरी तुम दोनों आँखें हो ! ये कैसे हो सकता है कि एक आँख रोये और दूसरी हँसे । मेरी आँखों की ज्योति तो तुम्हीं हो ।

वसंततिलका : एक बार पुनः विचार करें मातुश्री ! आवेग में आकर कोई निर्णय करना उचित नहीं ।

देवलदेवी : (स्नेहपूर्वक) आवेग तुम्हारे रक्त में आ सकता है बेटी ! मैं तो अनुभव करते-करते वृद्ध हो गई हूँ। नारी में क्षमा व धैर्य धारण की अद्भुत शक्ति है। माँ, पत्नी, सहोदर व पुत्री के रूप में उसकी क्षमता सर्वत्र निखरी है । (दृढ़तापूर्वक) परिवार की भलाई बुराई का मुझे पूरा-पूरा ध्यान है। सत्य की सदा सर्वदा विजय होती आई है। व्यर्थ की बातों को छोड़ निश्चिन्त रहो। कहाँ का विवाद ले बैठी इस शुभावसर पर। तेरी बुद्धि पर तरस आ रहा है वसंत ! उठ, सुन्दर वसनाभूषणों से सज्जित हो ले। विलम्ब हो रहा है।

वसंततिलका : धृष्टता क्षमा करें माँश्री ! मैं लाख अच्छी हूँ, पर संसार ऐसा नहीं मान सकता । वह मुझे वेश्या के अतिरिक्त और कुछ भी स्वीकार नहीं करेगा ।

देवलदेवी : कितनी बार कहा कि दुनिया की बात मत कर। इस दुनिया का कौन ठिकाना।

वसंततिलका : क्षमा करें माँश्री ! आपका दृष्टिकोण ममता के कारण एक पक्षीय हो रहा है। आप यह क्यों नहीं सोच पा रहीं कि **'यदि प्रतिष्ठित घरों में यह अनियमितता व्यवहृत हुई तो घर-घर में यह स्थान पा लेगी। सार्वजनिक जीवन अनर्थों से भरकर घृणित हो उठेगा।'** और मैं अपने अन्तर को भ्रम में न रख सकूँगी

माँश्री ! कि इस महा अनर्थ की जड़ में मेरी लालसा, मेरी घिनौनी दुर्दमनीय वासना ही प्रमुख रूप से कारण होगी। (अत्यन्त दुखित हो) नहीं माँजी ! बहुत पाप कर चुकी हूँ । अब पश्चाताप भी कर लेने दें, ताकि कुछ हल्की हो सकूँ।

देवलदेवी : तेरा तर्क अनोखा है वसंत ! तू जीती मैं हार गई। फिर भी एक बार पुनः विचार कर ले । क्वचित तेरा ही तर्क तुझे मिथ्या प्रतिभासित हो ।

वसंततिलका : पुनर्विचार की समस्या नहीं है मातेश्वरी ! पूर्णरूपेण सत्य कैसे झुठलाया जा सकता है। यह समाज का मान बिन्दु है। इसे उल्लंघन करने की मानव में सामर्थ्य नहीं। सांसारिक जीवन में लोक व्यवहार के बिना कार्य नहीं चल सकता। **यदि मनुष्य की आंखों से लोक लाज का आवरण हट जाये तो वह अत्यन्त निर्लज्ज हो जायेगा**। यदि सामाजिक बंधन नहीं रहे तो मनुष्य स्वच्छन्द प्रवृत्ति में रत हो उच्छृंखल बन जायेगा। अन्याय, अत्याचार प्रतिबंधित न हो सकेंगे। समाज विश्रृंखलित हो जायेगा। एक भयानक अराजकता फैल जायेगी माँ जी !

देवलदेवी : यथार्थ कह रही है वसंत ! (लम्बी आहभर) तेरा ही कथन सुसंगत है। जैसी तेरी इच्छा हो बेटी ! वैसा कर। अब मैं क्या कहूँ। (धीर-धीरे प्रस्थान)

वसंततिलका : एक अन्तिम निवेदन है माँश्री ! (देवलदेवी रुक जाती हैं) कृपया आज से मेरा नाम सर्वथा विस्मृत कर दें, ताकि आर्यपुत्र को तनिक भी भनक न हो पाये।

देवलदेवी : ऐसा ही होगा बेटी ! मुझे भी तुझसे एक शिक्षा

मिली है वसंत ! मैं वृद्ध हो गई हूँ, पर आत्मकल्याण की रुचि अब तक भी जागृत नहीं हो पाई। इस तरुण वय में तेरी विचार शक्ति ने मुझे झकझोर दिया है। सचमुच मुझ वृद्धा को गृहस्थी से क्या प्रयोजन?

मैं भी गृहजाल से निवृत्त हो स्वस्थचित्त से एकाग्रतापूर्वक अपना कल्याण करूँ। अन्यथा मोह की कीचड़ में धँसती ही जाऊँगी। कौन जाने मृत्यु कब अनजाने आ गला दबोच ले, इसके पहले ही सावधानी श्रेयस्कर है। चारू भी आ गया। सचमुच आज का मंगल दिवस है।

⑤

चोर की साक्षी दूसरा चोर दे..

इसी संदर्भ में चारुदत्त, मित्रवती और वसंततिलका के बीच हुई चर्चा भी पठनीय मननीय है। अत: संक्षेप में प्रस्तुत है।

चारुदत्त : देवी ! वसंततिलका का कथन अक्षरशः सत्य है। सविवाहित का अविवाहित के प्रति ऐसा मृदु व्यवहार अभी तक देखने-सुनने में नहीं आया।

मित्रवती : आपका वसंत के त्याग की ओर तो ध्यान गया ही नहीं, आपके आगमन पर अचानक ही इसने दूसरा रूप धारण कर लिया। कहती है कि प्रच्छन्न रूप से दासी की भाँति निवास करूँगी। क्या यह उचित है ?

चारुदत्त : देवी ! ऐसा निर्णय करने का कारण क्या है ?

वसंततिलका : आर्यश्रेष्ठी ! आपने ही मुझे विवेक दिया, जिससे मेरी बुद्धि ने विचार करने की क्षमता पाई और आज आप जैसे विवेकवान इस 'प्रश्न' को उठायें तो अत्यन्त आश्चर्य होता है। क्या लोक हमारे संबंध को स्वीकार करेगा ?

चारुदत्त : निश्चित ही नहीं करेगा, परन्तु हम करायेंगे। हम तुम्हारी उज्ज्वलता की साक्षी देंगे।

वसंततिलका : यह असंभव है देव ! आपकी साक्षी नहीं मानी जायेगी। बारह वर्ष की घनिष्ठता से प्रमाणित है कि मैं और आप दोनों एक ही साँचे में ढ़ले हुये हैं। **एक चोर की साक्षी दूसरा चोर दे तो सफलता तो दूर वह हास्यास्पद ही बनकर रह जायेगा।**

चारुदत्त : एक बात और है देवी ! जबकि देवी मित्रवती तुम्हें अपना चुकी हैं, तब आन्तरिक बाधाओं से हम निर्भय हैं। रही लोक की बात सो यदि समाज हमें मानने को प्रस्तुत नहीं तो हम भी लोक मान्यता को त्याग देंगे।

वसंततिलका : लोक मान्यता क्या त्यागेंगे ? मुझे ग्रहण करना और लोक मान्यता त्यागना - ये दो नहीं, एक ही बात है।

चारुदत्त : चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं। हम और हमारा घर। बस लघु परिवार ही हमारा सब कुछ होगा।

वसंततिलका : समाज का त्याग करना हँसी खेल नहीं आर्यपुत्र! ये माटी के घरौंदे नहीं कि मनचाहे बनायें और मिटा डालें। इससे समस्या का समाधान नहीं होगा। समस्या ज्यों की त्यों बनी रहेगी, अपितु और भी उलझ जायेगी। क्या आप बतला सकते हैं कि आप अपनी संतान के विवाह संबंध किस प्रकार करेंगे ? उनके प्रति किये गये लांछन, अपशब्द क्या आपको प्रियकर हो सकेंगे? (चारुदत्त मौन हैं) निश्चय ही नहीं। निरुत्तर हो गये आर्यश्रेष्ठी ! आपका मौन इसका सूचक है। आप ही क्या, इसका उत्तर मनीषियों के पास नहीं है। प्रलयकाल तक इसका उत्तर अप्राप्य ही रहेगा।

धर्म शास्त्र जीवन को नीरस नहीं, अपितु सार्थक बना देते हैं।

⑥

तुम्हें भी आपत्ति न होगी।

जब संसार में ऐसी (उक्त) विषम परिस्थिति बन जाती है तब अज्ञानी मोही प्राणी इससे बचने हेतु पूरे परिवार सहितअपनी इहलीला समाप्त कर देता है पर वह आत्मघातक होने से सर्वथा अनुचित है और वर्तमान तथा भविष्य में दुखरूप एवं दुखदायी होता है। पर देखिए यहाँ ज्ञानी पुरुष अपने विवेक से कितना सुंदर और सफल निर्णय लेते हैं।

मित्रवती : एक मार्ग और है वसंत !

वसंततिलका : (मुस्कुराकर) अब और अधिक मोह में पड़ विकल्प न करें जीजी ! जीवन-तरणी को बहाव के मार्ग पर सरलगति से रहने दें। हस्तक्षेप कर उसकी गति वक्र बनाने का असफल प्रयास न करें। वह दुःखपूर्ण ही होगा।

मित्रवती : मेरे मन ने सरल से सरल पथ का इसी क्षण अन्वेषण कर लिया है सखी ! आओ सुनो, तुम्हें भी आपत्ति न होगी।

वसंततिलका : (बैठकर) अवश्य सुनूँगी जीजी ! तुमने तत्क्षण मार्ग खोजा है तो जानने की जिज्ञासा स्वाभाविक प्रबल होगी ही। सचमुच आपकी विचार शक्ति प्रशंसनीय है।

मित्रवती : ज्ञात होने पर तुम उपहास न कर सकोगी। सुनो, यदि हम तीनों मिलकर सांसारिक सामग्री का उपभोग करने भोगों के बीच नहीं रह सकते तो आध्यात्मिक विचारधारा का अवलम्बन ले योग धारण कर श्रमण पथ के एक साथ पथिक तो बन सकते हैं। इससे किसी को कोई बाधा भी न होगी। देश, काल, धर्म के विपरीत भी हम नहीं जायेंगे।

वसंततिलका : मार्ग तो सचमुच ही सुन्दर है जीजी ! इस अनोखी तात्कालिक सूझबूझ के लिए तुम धन्यवाद की पात्र हो। सुखद शुभ सम्मति कल्याणकारी एवं मेरे हित में है। आप दोनों अभी गृहस्थधर्म सेवन करें और मैं योग पथ पर चलकर आत्महित करूँगी। इस प्रकार सब सानन्द अपने-अपने कार्य में रत हो सकेंगे।

चारुदत्त : खूब विचार कर लो शुभे ! श्रमण पथ असिधाराव्रत के सदृश्य है। इस वय में असाध्य नहीं तो दुस्साध्य अवश्य है।

मित्रवती : पर मैं अकेली वसंत को योगिनी नहीं बनाना चाहती। मैं स्वयं भी उसी पथ का अनुसरण करूँगी।

चारुदत्त : और हम ?

मित्रवती : आपकी जो इच्छा हो, सो करें। स्वतंत्र हैं आप। हम अपना अभ्यास प्रारम्भ कर सफलता की ओर अग्रसर होंगे।

चारुदत्त : यह कैसे हो सकता है। तुम दोनों आगे और हम पीछे। पीछे रहना हमें तनिक भी रुचिकर नहीं है देवियो ! क्यों न हम भी आत्म साक्षात्कार कर चिर शान्ति पाने का प्रयास करें।

अस्तु ! हम तीनों उसी योगपंथ के पथिक बनेंगे। **जहाँ कोई ऊँच-नीच नहीं, छोटा-बड़ा नहीं, कोई बिघ्न बाधा नहीं।** जिस पर चलकर सभी अपना कल्याण कर सकते हैं। जहाँ प्रत्येक मानव सर्वोदय के पात्र हों, वही उन्मुक्त मार्ग प्रशस्त है।

जिसे अपना कल्याण करना हो, जो नीच-ऊँच के भेद मिटाना चाहता हो वह आये और इस मार्ग पर चलकर भव-भव की भटकन को समाप्त कर परमात्म स्वरूप बनें।

इसीलिए तो कहा है – **दुख से बचने का उपाय आत्मघात नहीं आत्मसाधना करना ही है।**

➤ हमारे प्रकाशन ➤

चौबीस तीर्थंकर पुराण	(हिन्दी)	75/-
चौबीस तीर्थंकर पुराण	(गुजराती)	50/-
शिवपुर के राही (मल्टीकलर)	(श्री कानजीस्वामी का जीवनदर्शन)	50/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-1	(लघु कहानियाँ)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-2	(सगर चक्रवर्ती, वज्रवाहु, सुकौशल)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-3	(ब्रह्मगुलाल, अंगारक)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-4	(श्री हनुमान चरित्र)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-5	(श्री पद्म (राम) चरित्र)	25/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-6	(अकलंक-निकलंक नाटक)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-7	(अनुबद्ध केवली श्री जम्बूस्वामी)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-8	(8 अंग और 5 अणुव्रतों की कथा)	20/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-9	(शासन नायक श्री वर्द्धमान चरित्र)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-10	(सुभौम चक्रवर्ती, अमरकुमार नाटक)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-11	(सती अनंगसरा,निमित्त-उपादान नाटक)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-12	(बालि मुनिराज,महारानी चेलना नाटक)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-13	(यशोधर मुनिराज, धन्यकुमार कथा)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-14	(नाटक-राजा श्रीकंठ, पुण्यप्रकाश...)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-15	(बंधुश्री एवं लुब्धक सेठ)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-16	(सती मनोरमा एवं पं. टोडरमल नाटक)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-17	(प्रद्युम्नकुमार,जयकुमार,सूर्यमित्र कथा)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-18	(सेठ सुदर्शन, दीवान अमरचंद नाटक)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-19	(षट् लेश्या, श्री जीवंधर चरित्र)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-20	(श्री वरांग चरित्र)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-21	(श्री गुरुदत्त चरित्र,सम्यक्त्वलीला नाटक)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-22	(श्री सुकमाल चरित्र, मृगध्वज कथा)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-23	(श्रीकृष्ण, चंदनवाला कथा)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-24	(उपसर्गजयी संजयंतमुनि, राजा श्रेणिक)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-25	(कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य कुन्दकुन्ददेव)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-26	(बाईस परीषह : संवाद के रूप में)	30/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-27	(तू किरण नहीं सूर्य है)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-28	(लघु कहानियाँ, एकांकी नाटक)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-29	(भरत से भगवान : एक जीवनयात्रा)	20/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-30	(भगवान पार्श्वनाथ चरित्र)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-31	(भगवान नेमिनाथ चरित्र)	20/-

हमारे प्रेरणा स्रोत : ब्र. हरिलाल अमृतलाल मेहता

जन्म
ई.सन् १९२४
पौष सुदी पूनम
जैतपुर (मोरबी)

देहविलय
८ दिसम्बर, १९८७
पौष वदी ३, सोनगढ़

सत्समागम
ई.सन् १९४३
अषाड़ सुदी दोज
राजकोट

ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा
ई.सन् २२.२.१९४७
फागण सुदी १
(उम्र २३ वर्ष)

पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी के अंतेवासी शिष्य, शूरवीर साधक, सिद्धहस्त, आध्यात्मिक, साहित्यकार **ब्रह्मचारी हरिलाल जैन** की 19 वर्ष में ही उत्कृष्ट लेखन प्रतिभा को देखकर वे सोनगढ़ से निकलने वाले आध्यात्मिक मासिक **आत्मधर्म** (गुजराती व हिन्दी) के सम्पादक बना दिये गये, जिसे उन्होंने 32 वर्ष तक अविरत संभाला। पूज्य स्वामीजी स्वयं अनेक बार उनकी प्रशंसा मुक्त कण्ठ से इस प्रकार करते थे-

''मैं जो भाव कहता हूँ, उसे बराबर ग्रहण करके लिखते हैं, हिन्दुस्तान में दीपक लेकर ढूँढने जावें तो भी ऐसा लिखने वाला नहीं मिलेगा...।''

आपने अपने जीवन में करीब 150 पुस्तकों का लेखन/सम्पादन किया है। आपने बच्चों के लिए **जैन बालपोथी** के जो दो भाग लिखे हैं, वे लाखों की संख्या में प्रकाशित हो चुके हैं। अपने समग्र जीवन की अनुपम कृति **चौबीस तीर्थंकर भगवन्तों का महापुराण**–इसे आपने 80 पुराणों एवं 60 ग्रन्थों का आधार लेकर बनाया है। आपकी रचनाओं में प्रमुखतः आत्म-प्रसिद्धि, भगवती आराधना, आत्म वैभव, नय प्रज्ञापन, वीतराग-विज्ञान (छहढ़ाला प्रवचन, भाग 1 से 6), सम्यग्दर्शन (भाग 1 से 8), अध्यात्म-संदेश, भक्तामर स्तोत्र प्रवचन, अनुभव-प्रकाश प्रवचन, ज्ञानस्वभाव-ज्ञेयस्वभाव, श्रावकधर्मप्रकाश, मुक्ति का मार्ग, मूल में भूल, अकलंक-निकलंक (नाटक), मंगल तीर्थयात्रा, भगवान ऋषभदेव, भगवान पार्श्वनाथ, भगवान हनुमान, दर्शनकथा, महासती अंजना आदि हैं।

2500वें निर्वाण महोत्सव के अवसर पर किये कार्यों के उपलक्ष्य में, जैन बालपोथी एवं आत्मधर्म सम्पादन इत्यादि कार्यों पर अनके बार आपको स्वर्ण-चन्द्रिकाओं द्वारा सम्मानित किया गया है।

जीवन के अन्तिम समय में आत्म-स्वरूप का घोलन करते हुए समाधि पूर्वक **''मैं ज्ञायक हूँ...मैं ज्ञायक हूँ''** की धुन बोलते हुए इस भव्यात्मा का देह विलय हुआ-यह उनकी अन्तिम और सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता थी।